VEDIC JYOTISH - SHASTR

1946 Acc. No. 22069

13

कृपया

प्रकाशक
सार्वदेशिक सभा, श्रद्धानन्द बाज़ार,
देहली ।

मुद्रक
लाला सेवाराम चावला,
चन्द्र प्रिंटिङ्ग प्रेस, नया बाज़ार, देहली ।

वैदिक ज्योतिष्-शास्त्र
की
विषय सूची

विषय | पृष्ठ

आकाशगङ्गा

ग्रहमण्डल

सूर्य

प्राक्कथन

हम आर्यों का विश्वास एवं सिद्धान्त है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वेद का अर्थ यदि ज्ञान हो जैसा कि "विद् ज्ञाने" (अदादि) धातु से यह बना है तब तो किसी को भी इसे ईश्वरीय मानने में ननु नच करने का अवसर नहीं होता, कारण कि ज्ञान ईश्वरीय ही होता है, मनुष्यकृत नहीं। दो और दो चार का ज्ञान प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में समान है। इसे किसी मनुष्य ने नहीं बनाया किन्तु मनुष्य तो इस को किसी क्षेत्र में फलित ही करता है। हाँ, यह तो मानना ही पड़ेगा कि वेद ज्ञान का अधिकरण है। इस विषय में वेदसे उदाहरण तो विस्तारभय के कारण यहां देना नहीं चाहते † तथापि कुछ अन्य साक्षियां इस विषय में अवश्य देते हैं।

---

† वेद से विद्या सम्बन्धी उदाहरण देखो हमारी लिखी "वेद में दो बड़ी वैज्ञानिक शक्तियां" पुस्तक की प्रस्तावना।

अङ्ग बतलाया है। वेद में ज्योतिष् विद्या है इस विषय में मोक्ष मूलर के वचन देखने योग्य हैं।

"This earlier authority which we find alluded to in Theological and Philosophical works as well as in poetry in codes of law in astronomical, grammatical, metrical and lexicographical compositions is called by one comprehensive name, 'the Veda'" (P. Max Muller H. of Ancient Sanskrit literature, P. 2)

अर्थात् यह पूर्ववर्ती प्रामाणिक ग्रन्थ वेद ही हैं जो कि धर्मशास्त्रों, दार्शनिक ग्रन्थों, कविता, ज्योतिष् विद्या (खगोल विद्या) व्याकरण, छन्द और कोष ग्रन्थों को निर्देश देता है। अतएव वेद ज्ञान का मूल अधिकरण या आदि स्रोत होने से ज्योतिष् विद्या के निर्देश भी वेद में होने ही चाहियें† वे निर्देश क्या हैं इस पुस्तक के रूप में पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किये जाते हैं। आशा है पाठक महानुभाव अवलोकन कर अनुगृहीत करेंगे।

—प्रियरत्न आर्ष

---

† वेदमें ज्योतिष् विद्यावेत्ता ज्योतिषी की सत्ताभी स्पष्ट है "प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्" (यजु० ३०।१०) प्रज्ञान अर्थात् आकाशीय या भौगोलिक किसी घटना का प्रथम संकेत जानने पहचनाने के लिये राज्य में ज्योतिषी नियुक्त करना चाहिये। पृथिवी पर भूचाल, अन्य उत्पात सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि घटनाओं का प्रथम ज्ञान कराके चेतानेवाले ज्योतिषी को नियुक्त करना चाहिये।

ओ३म्

वैदिक ज्योतिष्-शास्त्र

खगोल का निर्माता देव

खगोल या आकाश-मण्डल में वर्तमान सूर्य चन्द्र शुक्र आदि ग्रहों, रेवती अश्विनी आदि नक्षत्रों, धूमकेतु आदि तारों एवं अनन्त ज्योतिष्पिण्डों और पृथिवी आदि गोलों की यह समस्त सृष्टि गतिमय होने से परिणामिनी है अतएव उत्पन्न हुई है। वेद में कहा है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव।

(ऋ० १०। १२९। ७)

'यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है।'

इस कथन से उक्त सृष्टि का उत्पन्न होना दर्शाया है, उत्पत्ति किसी उत्पत्तिकर्ता की अपेक्षा रखती है अतएव वेद में कहा है—

द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।
(ऋ० १० । ८१ । ३, यजु० १७ । १९)

'द्यावाभूमी अर्थात् सूर्य आदि ज्योतिष्पिण्डों और पृथिवी आदि प्रकाश्य गोलों एवं खगोल के समस्त प्रकाश्य-प्रकाशक पिण्डों का उत्पन्न करने वाला एक देव है।'

यहां उक्त समस्त पिण्डों का उत्पन्नकर्ता एक देव कहा है। उच्चकोटि के पाश्चात्य ज्योतिषी विद्वान् भी इस निर्णय पर पहुंच चुके हैं। जब एक ज्योतिषी गणित करके देखता है कि अमुक तारा अमुक समय में जिस विन्दु या कक्षा-रेखा पर आयगा उसी समय में उसी विन्दु या कक्षारेखा पर हमारी पृथिवी भी आयगी उस तारे की टक्कर से इसके नष्ट-भ्रष्ट और चकनाचूर हो जाने की सम्भावना है परन्तु वह समय निकल जाता है और इस पृथिवी को कोई हानि नहीं पहुंचती तब वह ज्योतिषी देखता है कि उस तारे और पृथिवी के एक विन्दु या एक कक्षारेखा पर से चल निकलने में कोई दश-पन्द्रह मिनट का अन्तर पड़ गया था, उक्त तारा दश पन्द्रह मिनट प्रथम निकल गया। पुनः वही ज्योतिषी किसी अन्य तारे के सम्बन्ध में पृथिवी से टकरा जाने का भय निश्चित कर देने पर वैसी घटना घटित न होने से उस विन्दु या कक्षारेखा पर से वह तारा पांच मिनट पहिले मिकल गया, दोनों की गति में

पांच मिनट का अन्तर पड़ गया ऐसा समझता है। यह अन्तर क्यों पड़ गया ? यह एक प्रश्न उसके सामने रहता है। इतनी सूक्ष्म गति में कोई अन्य अदृश्य-शक्ति काम कर रही है†। इसी प्रकार एक विद्वान् बड़ा दूरवीक्षण यन्त्र (telescope) बनाता है उससे किसी नवीन तारे को देखता है और वह समझ बैठता है कि मेरी दूरवीन बड़ी है मैंने ही नवीन तारा देखा। पुनः दूसरा ज्योतिषी उससे भी बड़ी दूरवीन बनाता है अन्य किसी तारे को देखता है और दावा करता है कि मेरी दूरवीन बड़ी से बड़ी है मुझ से अधिक नया तारा कौन देख सकता है, परन्तु कालान्तर में कोई और ज्योतिषी खड़ा होता है वह पहिले से भी बड़ी दूरवीन बनाता है किसी नये तारे को देखता है और वैसा ही दावा करता है इत्यादि, ऐसे पुनः पुनः नये नये ज्योतिषियों का उत्पन्न होना उनके द्वारा बड़ी से बड़ी दूरवीनों का बनाया जाना एवं नये-नये तारों का दीखना अनन्त काल तक चलता ही रहेगा चाहे मील भर व्यास से भी अधिक के कांच का दूरवीन बन जावे तारे नये-नये दीखने बन्द न होंगे। इस प्रकार इस अनन्त असीम खगोल सृष्टि का उत्पन्न करने वाला

† पाश्चात्य ज्योतिषी विद्वानों की ऐसी घोषणाएं कई बार समाचार पत्रों में निकलती रही हैं कि अमुक तारे से पृथिवी टकरा कर नष्ट हो जावेगी पुनः न टकराने पर दश-पांच मिनट का अन्तर आदि कारण बतलाया जाता है। ईश्वर की सृष्टि में एक मिनट या कुछ सेकण्डों के अन्तर रहने पर भी टक्कर नहीं लग सकती उसकी सूक्ष्म गणित का पार बड़े से बड़ा ज्योतिषी भी नहीं पासकता।

कोई अदृश्य असीम शक्ति-सम्पन्न देव है यही निश्चय होता है। अस्तु! अब यह देखना है कि वह उत्पत्तिकर्ता देव कौन है, वेद कहता है—

> यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद
> भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक
> एव तं सम्प्रश्नं भुवनायन्त्यन्या ॥
>
> (ऋ० १० । ८२ । ३, यजु० १७ । २७)

'जो हमारा उत्पन्नकर्ता पिता तथा जो विधाता सृष्टि का रचक और नियन्ता एवं समस्त सूर्य आदि धामों को जानता है और जो देवों द्युस्थान‡ खगोल में वर्तमान पदार्थों का नामधा (नाम का देने वाला या स्वरूप का धारण करने वाला) एक ही है उस सम्प्रश्न अर्सात् सम्यक् प्रश्नयोग्य या गम्भीर प्रश्न जिसके सम्बन्ध में खगोल वेत्ताओं के हो सकते हैं उस गम्भीर-विचारास्पद देव की ओर अन्य समस्त भुवन-सूर्य आदि लोक अपना झुकाव रखते हैं—उसे सूचित करते हैं।'

उक्त कथन में खगोलसृष्टि का कर्ता कोई चेतन सर्वज्ञ देव है ऐसा सूचित किया गया है, उसे ही ईश्वर या परमात्मा कहते हैं उसे ही क्रिश्चियन गाड और यवन खुदा कहते हैं।

---

‡ "देवो……द्यु स्थानों भवतीति" (निरुक्त ७।१५)।

खगोल या आकाशमण्डल

यह विविध सृष्टि सर्वत्र व्याप्त खगोल या आकाशमण्डल में वर्तमान है, न केवल यह सृष्टि ही किन्तु इसका उपादानकारण प्रकृति भी उसमें विलीन रहती है, उक्त आकाशमण्डल असीम है अनन्त है। वेद में कहा है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्गवेद यदि वा न वेद॥
(ऋ० १०।१२९।७)

'यह विविध सृष्टि जिस देव से उत्पन्न हुई वह चाहे तो इसे धारण करे और चाहे तो न धारण करे अर्थात् सृष्टि का संहार करदे, तथा जो 'अस्याध्यक्षः' इस प्रकृतिरूप उपादान कारण का ‡

‡ मन्त्र में 'अस्याध्यक्षः' में 'अस्य' यह शब्द विसृष्टि के लिये नहीं आया क्योंकि स्त्रीलिङ्ग नहीं है किन्तु इससे पूर्व मन्त्र ३ में 'आभु' 'एकम्' एक उपादान कारण के लिये है। देखिये मन्त्र—

अध्यक्ष चेतन देव 'परमे व्योमन्' महान् आकाश में वर्तमान है हे जिज्ञासो! वह इस प्रकृतिरूप उपादान कारण को चाहे तो जाने और चाहे तो न जाने, जब वह इसे जानता है—जानना चाहता है तब प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति करने का प्रारम्भ कर देता है और जब इसे नहीं जानता है—नहीं जानना चाहता है उससे उपेक्षा रखता है तब सृष्टि, उत्पन्न न करके महाप्रलय ही को बनाए रखता है।'

उक्त मन्त्र में 'परमे व्योमन्' महान् आकाश में प्रकृति का अध्यक्ष देव वर्तमान था ऐसा कहने से सूर्य चन्द्र तारे पृथिवी आदि महान् आकाश में—अनन्त आकाश में हैं अतः इन समस्त पिण्डों का वह आधार है, यह बात वेद में अन्यत्र सूचित की भी है—

शृणोतु नः पृथिवी द्यौरुतापः सूर्यो नक्षत्रैरुर्वन्तरिक्षम्।

(ऋ० ३।५४।१९)

इस मन्त्र में पृथिवी, द्यौः, आपः (आकाशगङ्गा) सूर्य और नक्षत्रों के साथ अन्तरिक्ष का वर्णन एवं सम्बन्ध प्रदर्शित किया है।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥ ३॥

अर्थात् सृष्टि से पहिले 'तमः' अन्धकार था उस अन्धकार से ढका हुआ यह सब अज्ञेय अगाध जल जैसा था उस समय तुच्छरूप से विलीन 'आभु' आभवत्यस्मात्-इति-आभु अर्थात् उपादान कारण जो था वह 'तप' (ईश्वरीय शक्ति) से महिमारूप से एक वस्तु अर्थात् महत्तत्त्व वस्तु प्रकृति का विकृतिरूप में बनजाता है।

आकाशमण्डल में जब सूर्य नक्षत्र पृथिवी आदि पिण्ड उत्पन्न होजाते हैं तब वह अन्तरिक्ष नाम से कहलाता है, कहा भी है "तद्यदस्मिन्निदं सर्वमन्तस्तस्मादन्तर्यंक्षम्। अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत्। तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते" (जै० उ० १। २०। ४) अर्थात् जिससे कि इसमें यह सब 'अन्तर्' अन्दर है अतः अन्तरिक्ष कहते हैं ‡।

हम देखते हैं कि सूर्य चन्द्र नक्षत्र पृथिवी आदि गोल हैं, कण अणु परमाणु जैसे अतिसूक्ष्म परिमाण की वस्तु को भी गोल ही माना गया है एवं अतिमहत्-परिमाण की वस्तु आकाश भी गोल समझना चाहिये, अतएव इसे खगोल कहते हैं 'ख' आकाश का नाम है वह गोल होने के कारण खगोल कहलाता है। सूर्य आदि के गोल होने से उनका सापेक्ष आकाश भी गोल ही तो हो सकेगा एवं समस्त गोलों का एकीभाव होजाने पर अर्थात् सबकी एक समष्टि कहलाने पर महान् आकाश भी गोल ही सिद्ध होगा अत एव वह खगोल नाम से कहा जाता है।

‡ प्रकाशक, प्रकाश्य और मध्यस्थ पिण्डों के भेद एवं उनको अपेक्षित करने से अन्तरिक्ष गौणरूपेण तीन प्रकार का है "त्रिरन्तरिक्षं...." (ऋ० ४। ५३। ५) पृथिवीगोल के साथ यह सापेक्ष अन्तरिक्ष रहता है उसीमें पृथिवी और पृथिवीस्थ पदार्थों के कण या रज सूक्ष्मरूप से वर्तमान रहते हैं यह पृथिवी का पिञ्जरा है पृथिवी के साथ साथ घूमता है इसे पृथिवी का परिधिमण्डल भी कहते हैं। इसमें पक्षी उड़ते हुए और वायुयान चलते हुए भी पृथिवी की गति का उल्लंघन नहीं कर सकते।

ध्रुव

वेद से वेदों का उत्पत्तिकाल

श्रीयुत लोकमान बाल गङ्गाधर तिलक ने अपनी 'ओरायन' (orion) पुस्तक में ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८६ के आधार पर यह कल्पना की है कि वेदों का उत्पत्ति-काल ई० सं० से चार सहस्र वर्ष पूर्व का है, उनका कहना है कि "उक्त सूक्त में मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्तसम्पात का वर्णन है उक्त सम्पात ई० सं० से चार सहस्र वर्ष पूर्व था उसी समय में ऋचाओं की रचना हुई † ।" यह है उनका पक्ष, इस पर विचार करने से प्रथम वसन्त-सम्पात किसे कहते हैं यह बतला देना चाहते हैं जिससे आगे विषय को समझने में सुगमता हो जावे।

† 'ऋग्वेद के बहुत से सूक्त इस ही मृगशीर्षकाल में ई० सं० से २०००, २५०० वर्ष पूर्व तक में बने' (तिलक विचार)

हमारे इस पृथिवीगोल के उत्तर दक्षिण में दो ध्रुव हैं‡ जिन्हें क्रमशः उत्तर-ध्रुव और दक्षिण-ध्रुव कहते हैं, ये दोनों आकाश में इस प्रकार वर्तमान हैं कि उत्तर-ध्रुव से यदि दक्षिण-ध्रुव तक सीधी रेखा खींची जावे तो वह पृथिवी-गोल के ठीक केन्द्र में से समसूत्र में पार होती हुई दक्षिण-ध्रुव से जा मिलेगी, इसे पृथिवीगोल की अक्षरेखा या अक्षदण्ड कहते हैं (देखो चित्र सं० १)। ऐसे दोनों ध्रुवों के समानान्तर से पृथिवी-गोल के मध्यपृष्ठ पर पूर्व-पश्चिम वृत्त खींचा जावे तो इसे विषुवद् वृत्त कहते हैं (देखो चित्र सं० २) तथा सूर्य के चारों ओर घूमती हुई पृथिवी की वार्षिक गति के कारण आकाश के जिस वार्षिक वृत्त में सूर्य भ्रमण करता हुआ प्रतीत होता है† वह क्रान्तिवृत्त कहलाता है (देखो चित्र सं० ३)। पृथिवीपृष्ठ के विषुवद् वृत्त को यदि चारों ओर आकाश में बढ़ाकर क्रान्तिवृत्त के समतल पर पहुँचा दिया जावे अथवा आकाशीय क्रान्तिवृत्त को सङ्कुचित कर पृथिवीगोल के पृष्ठ पर डाल दिया जावे तो दोनों विषुवद् वृत्त और क्रान्तिवृत्त परस्पर इतने तिरछे पड़ेंगे कि २३½ अंश

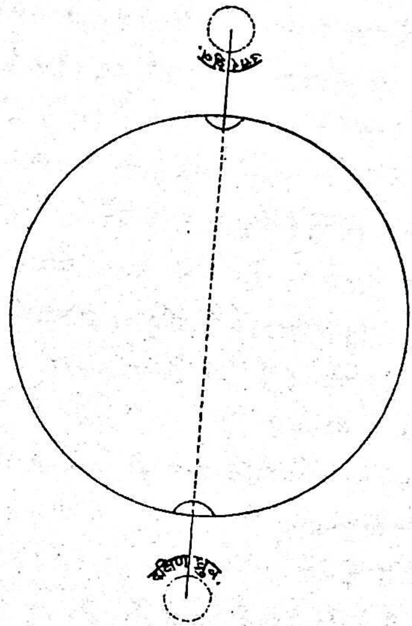
---

‡ भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः।
पर्येत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम् ॥
(सूर्य सिद्धान्त ।१२।७४)

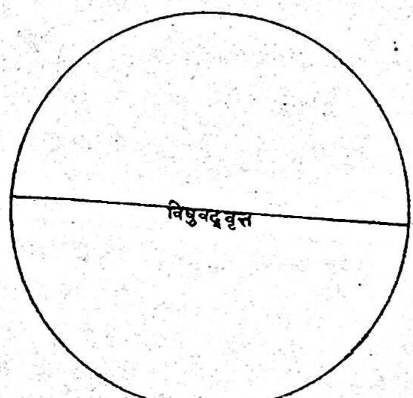
अर्थात् दोनों ध्रुवों में प्रवहनामक वायुसूत्रों से बंधा हुआ एवं प्रेरित किया हुआ 'भचक्र' तथा उससे सम्बद्ध ग्रहमण्डल निरन्तर घूमता है।

† वास्तव में सूर्य के चारों ओर भ्रमण करती है पृथिवी पर गणिता-नयन के लिये सूर्य भ्रमण करता है ऐसा कहा जाता है।

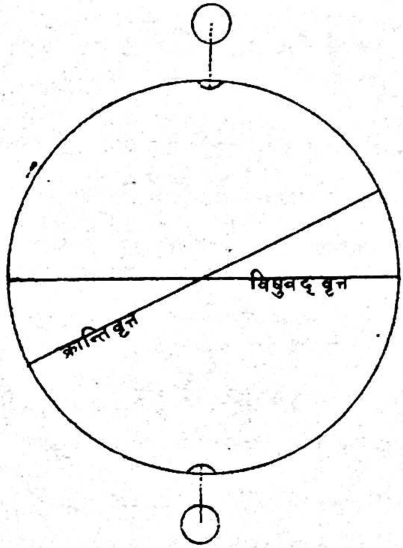
चित्र संख्या १



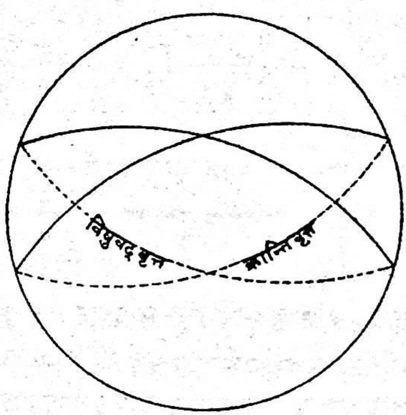
चित्र संख्या २



चित्र संख्या ३



चित्र संख्या ४



की कोण बनाते हुए आमने-सामने दो स्थानों पर मेल करेंगे‡ (देखो चित्र सं० ४)। इस मेल का नाम सम्पात है, इनमें एक वसन्तसम्पात और दूसरा शरत्सम्पात कहलाता है। सूर्य जब इन सम्पात बिन्दुओं पर भ्रमण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है तो दिन-रात बराबर हो जाते हैं; अतएव वर्ष में दो वार दिन-रात समान होने का अवसर आता है। वसन्त-सम्पात में वसन्त ऋतु और शरत्-सम्पात में शरद् ऋतु की प्रवृत्ति होती है अतएव वसन्त-सम्पात और शरत्-सम्पात नाम हैं। सम्पात चल है† भिन्न-भिन्न नक्षत्रों पर आता रहता है, इसलिये श्रीयुत बाल गङ्गाधर तिलक का कथन है कि उक्त वसन्त-सम्पात ई० सं० से चार सहस्र वर्ष पूर्व मृगशीर्ष नक्षत्र पर था और ऋग्वेद के उक्त सूक्त में मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात का वर्णन है तब तो वेदों का रचनाकाल ई० सं० से चार सहस्र वर्ष पूर्व का ही हुआ उसी समय में ऋचाओं की रचना हुई।

ऋग्वेद के उक्त सूक्त में श्री बालगङ्गाधर तिलक का अभिप्रेत है या नहीं इस पर तो हम पीछे सूक्तव्याख्या के समय विचार करेंगे किन्तु प्रथम उनकी दी हुई युक्तियों का विवेचन करते हैं।

---

‡ पृथिवी का अपने अक्ष पर तिरछे हो भ्रमण करना इसके तिरछे पड़ने का कारण है।

† इस सम्पातचलन को अयनचलन अक्षविचलन ध्रुवीय अक्षविचलन या ध्रुवप्रचलन भी कहते हैं। वास्तव में ध्रुवीय अक्षविचलन से सम्पातचलन और सम्पातचलन से अयनचलन होता है।

१—हम थोड़ी देर के लिये मान लेते हैं कि उक्त सूक्त में श्री बालगङ्गाधर तिलक का अभिप्रेत मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त-सम्पात का वर्णन है, तब यह कैसे मान लिया जावे कि ई० सं० से चार सहस्र वर्ष पूर्व ही वेदों की रचना हुई जबकि वे यह भी कहते हैं और मानते हैं कि वसन्तसम्पात चलता है, वारी वारी से एक एक नक्षत्र पर आता है‡ और सम्पातप्रदक्षिणा (पूरा सम्पातचलनचक्र) २५६२० वर्ष अर्थात् लगभग २६००० वर्ष में होती है, तब ई० सं० से चारसहस्र वर्ष पूर्व ही क्यों? उससे पहिली सम्पातप्रदक्षिणा में जब मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त-सम्पात था जो कि ई० सं० से लगभग ३०००० वर्ष पूर्व बैठता है अथवा उससे भी पहिली सम्पातप्रदक्षिणा में जो ई० सं० से ५६००० वर्ष पूर्व किंवा उससे भी पहिली सम्पातप्रदक्षिणा में लगभग ८२००० वर्ष पूर्व मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्तसम्पात था, एवं जहां तक पूर्व जासकते हों प्राचीन से प्राचीन अतिप्राचीन सम्पातप्रदक्षिणा में 'जो मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्तसम्पात था उसे वेदों का रचनाकाल माना जावे। न माना जावे इसमें कोई हेतु न होने से ई० सं० से ४००० वर्ष पूर्व वाले मृगशीर्षनक्षत्रस्थ वसन्तसम्पात को ही वेदों का रचनाकाल बतलाना हेत्वाभास मात्र है। यदि उक्त सूक्त में मृगशीर्षनक्षत्र पर वसन्तसम्पात का वर्णन होना ही वेदों के काल का निर्णायक हेतु है तब भविष्य

‡ सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र पर जाने में लगभग एक सहस्र वर्ष से कुछ कम लगते हैं।

में अन्य कोई विद्वान् ईसा से लगभग २२००० वर्ष पीछे अर्थात् आगे आने वाले आज से २०००० वर्ष पश्चात मृगशीर्ष नक्षत्र पर हुए वसन्तसम्पात को वेदों का रचनाकाल बतलाने का दावा कर सकेगा कारण कि उक्त दिया हुआ हेतु उसका भी साधक हेतु बनसकेगा तब श्री बालगंगाधर तिलक का दावा मिथ्या सिद्ध हो जावेगा अतः उक्त सूक्त में मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्तसम्पात के वर्णन को वेदों का रचनाकाल ई० सं० से चार सहस्र वर्ष पूर्व मात्र अर्थात् आज से छः सहस्र वर्ष पूर्वमात्र बतलाने की कल्पना का कोई मूल्य नहीं है।

२—वेदों के रचनाकाल में मृगशीर्षनक्षत्र पर वसन्तसम्पात था, इस विषय में श्री बालगंगाधर तिलक ने 'भगवद्गीता' का श्लोक साक्षीरूप में दिया है "मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः" (भगवद्गीता । १० । १५) कृष्ण जी कहते हैं कि 'मैं मासों में मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओं में वसन्त' इस वचन से तिलक जी महाराज यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मृगशीर्षनक्षत्र पर वसन्त-सम्पात था तभी तो कृष्ण जी ने ऐसा कहा। अस्तु, हमने बिना किसी ननुनच के मान लिया कि कृष्ण जी के समय मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्तसम्पात था परन्तु इससे यह कहां सिद्ध हुआ कि वेदों का रचनाकाल मृगशीर्ष नक्षत्र पर आया नक्षत्र वसन्तसम्पात है, कारण कि कृष्ण जी के समय मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त-सम्पात था इसका अर्थ तो यही है कि महाभारत के समय

मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्तसम्पात था ‡। वेद तो महाभारत से प्राचीन हैं। महाभारत में वेदों का वर्णन स्थान-स्थान पर आता है अपितु महाभारत से प्राचीन वाल्मीकि रामायण भी है स्वयं महाभारत में कहा है—

श्रृणु राजन् यथावृत्तमितिहासं पुरातनम् ।
सभार्येण यथा प्राप्तं दुःखं रामेण भारत ॥
(महाभारत । वनपर्व । २७३ । ६)

अर्थात् 'हे राजन्! भार्यासहित राम ने कैसा कैसा दुःख पाया इस पुरातन इतिहास को यथावत् सुन।' इस प्रकार रामायण की प्राचीनता को महाभारत स्वीकार करता है पुनः वाल्मीकि रामायण में भी वेदों की चर्चा बहुधा आती है, राम वेदों का विद्वान् था इत्यादि तब वेदों की सत्ता वाल्मीकि रामायण से भी पुरातन होने से महाभारतीय मृगशीर्ष-नक्षत्रस्थ वसन्त-सम्पात वेदों के रचनाकाल का साधक एवं साक्षी न रहा।

३—श्री लोकमान बालगङ्गाधर तिलक ने मृगशीर्षस्थ वसन्त-सम्पात से पूर्व के एक और काल का भी वर्णन किया है, जबकि पुनर्वसू नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था उस समय को उन्होंने

‡ महाभारत का ही काल साढ़े चार सहस्र वर्ष से ऊपर है 'वाराही संहिता' में लिखा है युधिष्ठिर का समय शक संवत् से २५२६ वर्ष पूर्व का है तब सप्तर्षि मघानक्षत्र पर थे—

आसन्मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ ।
षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च ॥
(वाराहीसंहिता । सप्तर्षिचारः । ३)

मृगशीर्ष-पूर्व-काल तथा अदिति-काल नाम दिया है, कारण कि अदिति पुनर्वसू नक्षत्र की देवता है और उस अदितिकाल का आधार 'ऐतरेय ब्राह्मण' को बनाया है "यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत् ते देवा न किञ्चनाशक्नुवन् कर्तुं न प्राजानंस्तेऽब्रुवन्नदितिं त्वयेमं यज्ञं प्रजानामेति सा तथेत्यब्रवीत् सा वो वरं वृणा इति वृणीष्वेति सैतमेव वरमवृणीत मत्प्रायणा यज्ञाः सन्तु मदुदयना इति तथेति ॥" (ऐ० ब्रा० १-७) अर्थात् 'यज्ञ देवों के पास से निकल गया पुनः देव न कुछ करसके न जानसके तब वे अदिति को बोले कि तेरे द्वारा इस यज्ञ को ज़ान जावें, उसने कहा बहुत अच्छा ! परन्तु मैं तुम से वर मांगती हूँ, देवों ने कहा वर मांग, उसने यह वर मांगा कि यज्ञों का आरम्भ और अन्त मेरे द्वारा हो' इस प्रकार वर्णन से श्री बालगङ्गाधर तिलक ने यज्ञ अर्थात् संवत्सर का आरम्भ करने वाले अदिति अर्थात् पुनर्वसू नक्षत्र पर वसन्त सम्पात को बतलाया है। अस्तु यह एक आश्चर्य की बात है कि वेदों का रचनाकाल तो वह मृगशीर्ष नक्षत्र पर आया वसन्तसम्पात बतलावें और वेदों का व्याख्यान करने वाले ऐतरेय ब्राह्मण में मृगशीर्षपूर्वकाल पुनर्वसूकाल को देखें, जिसकी अवधि भी उन्होंने ई० सं० से ६००० वर्ष पूर्व की दी है। जबकि वेदों के व्याख्यान-ग्रन्थ येतरेय ब्राह्मण अर्थात् ऋग्वेद के ब्राह्मण का काल मृगशीर्ष-काल से पूर्व पुनर्वसूकाल सिद्ध होता है तब मूल वेदों का काल ऐतरेय ब्राह्मण काल अर्थात् पुनर्वसू काल के भी पीछे कैसे हो सकता है ? अस्तु।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनों से यह सुतरां सिद्ध हुआ कि ई० सं० से चार सहस्र वर्ष पूर्व का मृगशीर्ष-नक्षत्रस्थ वसन्त-सम्पात वेदों का रचनाकाल है यह श्री बालगङ्गाधर तिलक की कल्पना नितान्त असत्य है। अस्तु। अब सूक्त पर भी कुछ सामान्य विचार किया जाता है।

सूक्त पर सामान्य विचार—

सूक्त में मृगशीर्ष नक्षत्र तो क्या मृगशीर्ष शब्द भी नहीं है केवल मृग शब्द अवश्य आया है परन्तु सूक्तभर में कहीं भी इसका विशेषण नक्षत्र शब्द या नक्षत्र का पर्याय अथवा स्वतन्त्र भी नहीं मिलता किन्तु वह मृग शब्द भी 'वृषाकपि' के लिये आया है "वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः" (मन्त्र ३)। वृषाकपि शब्द सूक्त में ११ वार आया है और मृग शब्द केवल दो वार ही। यह भी स्वतन्त्रव्यक्तिवाचक नहीं किन्तु वृषाकपि का यौगिक विशेषणरूप में। ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी भी इस बात में साक्षी है "वि हि त्र्यधिकैन्द्रो वृषाकपिरिन्द्राणीन्द्रश्च समूदिरे" (ऋग्वेदीया सर्वा०) अर्थात् सूक्त में वृषाकपि, इन्द्र और इन्द्राणी का संवाद है। इस लिये सूक्त में मृगशीर्ष नक्षत्र का वर्णन नहीं है। अब यह देखना है कि वृषाकपि, इन्द्र और इन्द्राणी क्या हैं। प्रथम वृषाकपि के लिये देखिये महर्षि यास्क के 'निरुक्त' में इसी सूक्त के २१ वें मन्त्र "पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै। य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मा०" का अर्थ दिया है वहाँ सूर्य को वृषाकपि कहा है "वृषाकपिः—अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्प-

यन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति वृषाकम्पनः तस्यैषा भवति—पुनरेहि वृषाकपे० पुनरेहि वृषाकपे सुप्रसूतानि कर्माणि कल्पयावहै य एष स्वप्ननंशनः स्वप्नान्नाशयत्यादित्य उदयेन सोऽस्तमेषि पथा पुनः" (निरुक्त १२।२८)। वृषाकपि सूर्य है इसमें स्वयं मन्त्र की अन्तःसाक्षी भी है क्योंकि इसे मन्त्र में "स्वप्ननंशनः" निद्रानाशक कहा है। महाभारत में सूर्य के लिये वृषाकपि शब्द आया है 'त्वं हंसः सविता भानुरंशुमाली वृषाकपिः" (म॰भा॰ ३।३.६१) श्री बालगङ्गाधर तिलक ने निरुक्त में दिये वृषाकपि के सूर्य अर्थ पर टिप्पणी करी है कि 'सूक्त में यह अर्थ सङ्गति नहीं खाता।' परन्तु पाठक हमारे अर्थों में देखेंगे समस्त सूक्त में सूर्य सुसङ्गत रूप से अभीष्ट है। इन्द्र और इन्द्राणी क्या हैं यह तो वे बतला सके ही न १३ वें मन्त्र में तो उनको झकझोले ही लेने पड़े। अस्तु !

उपर्युक्त निरुक्त के प्रमाण से वृषाकपि तो सूर्य हुआ अब इन्द्र और इन्द्राणी क्या हैं यह देखना है। यहां सूक्त में इन्द्र शब्द उत्तर ध्रुव के लिये आया है इसी सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में कहा भी है "विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" इन्द्र विश्व के उत्तर में है। इससे उत्तर ध्रुव का नाम इन्द्र है यह स्पष्ट हो रहा है, इन्द्र ध्रुव है इसकी पुष्टि में निम्न मन्त्र देखिये—

इन्द्रेहैव * ध्रुवास्तिष्ठ राष्ट्रमु धारय।
(अथर्व० ६।८७।२)

* 'इन्द्र इनेह' इति च पाठः क्वचित्।

'इन्द्र तू ध्रुव है यहां स्थिर हो विश्वरूप राष्ट्र को धारण कर' दूसरे पाठ में 'तू इन्द्र के समान ध्रुव है राष्ट्र को धारण कर' दोनों अर्थों में 'इन्द्र ध्रुव है' यह आशय बना रहता ही है और फिर मन्त्र का देवता भी 'ध्रुव' "अथर्ववेदीय-बृहत्सर्वानुक्रमणी" में बतलाया है। उक्त वर्णन से यह बात सुस्पष्ट तथा सुतरां सिद्ध हो जाती है कि उत्तर ध्रुव इन्द्र है।

अब रही तीसरी व्यक्ति 'इन्द्राणी' कौन है यह देखना है, 'इन्द्राणी' इन्द्र की पत्नी को कहते हैं "इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी" (निरुक्त । ११ । ३७) यहां इन्द्र तो उत्तर ध्रुव है उसकी परिचर्या करने वाले—उसकी परिक्रमा करनेवाली ब्रह्माण्ड के मध्य में वर्तमान व्योमकक्षा इन्द्राणी है। इन्द्राणीरूप व्योमकक्षा में नक्षत्र वर्तमान हो भ्रमण करते हैं जैसा कि 'सूर्यसिद्धान्त' नामक ज्योतिष् ग्रन्थ में कहा है—

ब्रह्माण्डमध्ये परिधिर्व्योमकक्षाभिधीयते ।
तन्मध्ये भ्रमणं भानामधोऽधःक्रमशस्तथा ॥
(सूर्य सि० १२ । ३०)

इस प्रकार इन तीन वृषाकपि (सूर्य), इन्द्र (उत्तर ध्रुव) और इन्द्राणी (व्योमकक्षा) का परस्पर संवाद है। इन तीन के अतिरिक्त एक चतुर्थ व्यक्ति भी मन्त्र १३ में है जो संवाद में भाग नहीं लेती किन्तु उदासीनरूप में है वह व्यक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु इस सूक्त में है वह कौन है यह इसी

स्थल पर बतलाया जायगा। इस सूक्त में ज्योतिष्-सम्बन्धी कई एक महत्वपूर्ण और आश्चर्यकारी बातों का वर्णन है।

सूक्त की व्याख्या से पूर्व एक बात और भी बतला देना आवश्यक है वह यह कि ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी में केवल इतना ही कहा है कि सूक्त में वृषाकपि, इन्द्र और इन्द्राणी का संवाद है किन्तु किस मन्त्र में किसकी ओर से उक्ति है ऐसा कुछ नहीं, इसलिये जहां जैसा उचित होगा वहां उसकी ओर से उक्ति दर्शाई जावेगी। सूक्त के प्रथम मन्त्र को सर्वानुक्रमणी के षड्गुरुशिष्य भाष्य में इन्द्र की उक्ति कहा है सायण ने भी इसे इन्द्र का वचन बतलाया है परन्तु सायण से पूर्वकालीन माधव भट्ट ने इसे इन्द्राणी की उक्ति ठहराई है, यह बात स्वयं सायण ने अपने भाष्य में लिखी है "माधवभट्टास्तु वि हि सोतोरित्येषा ऋगिन्द्राण्या वाक्यमिति मन्यन्ते" (सायणः) इसी प्रकार निरुक्त में आए इस मन्त्र के भाष्य में दुर्गाचार्य ने भी इस मन्त्र को इन्द्राणी का वचन कहा है वह इस मन्त्र पर लिखता है कि पूर्व ऋचा के समान इसका ऋषि है और पूर्व ऋचा में इन्द्राणी को ऋषि बतलाया है "वि हि सोतो इति पूर्वयैव समानार्षविनियोगश्छन्दस्का (पूर्वं तु) यदुदञ्चो इति इन्द्राण्या आर्षम्" (निरुत. १२। ३-४) अस्तु। हम भी सूक्त के प्रथम मन्त्र में माधवभट्ट और दुर्गाचार्य की भाँति इन्द्राणी की उक्ति मानकर सूक्त की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

98.2/99 22065

सूक्त की व्याख्या—

विहि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा-
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१॥

यह मन्त्र निरुक्त में आया है वहाँ इस में सूर्यकिरणों का कुछ व्यवहार दर्शाया गया है "अथैषादित्यरश्मीनाम्—वि हि सोतो०" (निरुक्त १३।४) अत एव हम भी निरुक्तानुसार सूर्य करणों का व्यवहार मानकर इसकी व्याख्या करते हैं—

अर्थ—(सोतोः—व्यसृक्षत हि) विश्व के प्रकटीभावार्थ रश्मियों अर्थात् प्रकाशकिरणों को ज्यों ही छोड़ा गया कि (इन्द्रं देवं न-अमंसत) उन्होंने इन्द्र अर्थात् उत्तर ध्रुव को अपना देव अर्थात् प्रकाशक नहीं माना (यत्र पुष्टेषु-अर्यः- वृषाकपिः- अमदत्) जब कि उन पुष्ट हुई अर्थात् सम्यक् प्रकाशमान किरणों में स्वामी बन वृषाकपि अर्थात् सूर्य हर्षित हुआ—विकसित हुआ—चमका। तब (मत्सखा-इन्द्रः- विश्वस्मात्-उत्तरः) मेरा सखा मेरा पति इन्द्र विश्व के उत्तर में है।

उत्तरीय ध्रुव की प्रेरणा से अन्तर्हित प्रकाशकिरणें विश्व के प्रकटीभावार्थ जैसे ही बाहर आईं "इन्द्रः सूर्यमरोचयत्" (ऋ० ८।३।६) तो उनके प्रखर हो जाने पर सूर्य ही स्वामी-रूप से चमका किन्तु इन्द्र अर्थात् उत्तरीय ध्रुव नहीं चमका-प्रकाश किरणों ने उसे अपना प्रकाशक नहीं माना परन्तु वह मेरा पति इन्द्र विश्व का सूत्रधार विश्व के उत्तर में है।

पुनः इन्द्राणी इन्द्र से कहती है—

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरतिव्यथिः।
न अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्व० ॥२॥

अर्थ—(इन्द्र वृषाकपेः- अतिव्यथिः) हे उत्तरध्रुवरूप इन्द्र मेरे पति! तू वृषाकपि के लिये—सूर्य के लिये † अतिव्याकुल हुआ (पराधावसि) परे हटता है—मुझ व्योमकक्षारूप इन्द्राणी से परे हटता जाता है‡ (अह-अन्यत्र सोमपीतये नो प्रविन्दसि) आश्चर्य है अन्यत्र किसी समय सोमपीति के लिये भी मुझे तू प्राप्त नहीं करता (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) पूर्ववत्॥

यहाँ इन्द्र अर्थात् उत्तरीय ध्रुव का वृषाकपि अर्थात् सूर्य की ओर झुकाव रखते हुए इन्द्राणी अर्थात् व्योमकक्षा से परे हटने पश्चात् गति करने—विलोम गति करने का वर्णन है, इसे ज्योतिष् की परिभाषा में ध्रुवप्रचलन ध्रुवीय अक्षविचलन अक्षविचलन सम्पातचलन और अयनचलन के नाम से कहा जाता है कारण कि ध्रुवप्रचलन से ध्रुवीय अक्षविचलन या अक्षविचलन होता है और अक्षविचलन से सम्पातचलन, सम्पातचलन से अयनचलन होता है।

ध्रुवप्रचलन, ध्रुवीय अक्षविचलन, अक्षविचलन, सम्पातचलन या अयनचलन का आविष्कार योरोपियन ज्योतिषियों ने ही किया हो ऐसा नहीं किन्तु भारतीय ज्योतिषी मुञ्जाल आदि ने

---

† "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" अष्टा० २ । ३ । ६२)

‡ "आ इत्यवार्गर्थे-प्र परा-इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्" (निरुक्त १ । ३)

स्वतन्त्ररूपेण आविष्कार किया था। 'सिद्धान्त-शिरोमणि' ज्योतिष् के ग्रन्थ में लिखा है—

विषुवत्क्रान्तिवलयोः सम्पातः स्यात्।
अयनचलनं यदुक्तं मुञ्जालाद्यैः स एवायम्॥

नहि तयोर्मेषादावेव सम्पातः किन्तु तस्यापि चलनमस्ति, ये ऽयनचलन-भागाः प्रसिद्धास्त एव विलोमगस्य क्रान्तिपातस्य भागाः (सिद्धान्त शिरोमणिः। गोलाधिकारः १७-१८)

उपर्युक्त वचनों में कहा गया है कि "विषुवद् वृत्त और क्रान्तिवृत्त का सम्पात होता है, मुञ्जाल आदि पूर्व के ज्योतिषियों ने जो अयनचलन कहा है वही यह सम्पातचलन है। उन विषुवद् वृत्त और क्रान्तिवृत्त का सम्पात मेष राशि की आदि में ही होता है ऐसा नहीं किन्तु उसका भी चलन हो जाता है, जो अयनचलन के भाग प्रसिद्ध हैं वे विलोम अर्थात् उलटा चलने वाले क्रान्तिपात के भाग हैं।"

मुञ्जाल ज्योतिषी ने श० सं० ८५४ अर्थात् ९३२ ई० स० में अपने 'लघुमानस करण' ग्रन्थ में अयनचलन को दिया है। मुञ्जाल से भी अढाई सौ वर्ष पूर्व श० सं० ५०० अर्थात् ५७८ ई० सं० में विष्णुचन्द्र ज्योतिषी ने भी अयनचलन को बतलाया है †

† विष्णुचन्द्रेणायनयुगमुक्तं तथा च तद्वाक्यम्—

तस्य चात्र युगं रुद्रकृतनन्दाष्टकेन्दवः ।१८९४११।
अयनस्य युगं प्रोक्तं ब्रह्मार्कादिमतं पुरा॥ इति
(ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त भाष्ये)

भाष्यकार कहता है कि विष्णुचन्द्र ने अयनयुग कहा है इस विषय में उसका वाक्य है 'तस्यात्र' अर्थात् "उस अयनचलन का युग १८९४११ भगण परिमाण है जो ब्रह्मार्क आदि का सम्मत अयन युग है।"

मुञ्जाल और विष्णुचन्द्र से पूर्व पश्चिम के 'हिपार्कस' ज्योतिषी ने ई० सं० से १२५ वर्ष पूर्व अयन चलनसम्पातचलन को बतलाया। परन्तु उक्त दोनों भारतीय ज्योतिषियों के अयनचलन का आविष्कार स्वतन्त्र था कारण कि हिपार्कस तो लगभग ३६ विकला प्रतिवर्ष अयनगति बतलाता है किन्तु विष्णुचन्द्र और मुञ्जाल ने ६० विकला के लगभग प्रतिवर्ष बतलाई है जो कि आजकल की गणना से मिलती हुई सी है।

मुञ्जाल और विष्णुचन्द्र से भी पूर्व 'वराहमिहिर' नामक भारतीय ज्योतिषी ने अयनचलन को जान लिया था, उन्होंने अपने 'पञ्चसिद्धान्तिका' और 'वाराहीसंहिता' ग्रंथों में कहा है कि—

आश्लेषार्द्धादासीद्यदा निवृत्तिः किलोष्णकिरणस्य।
युक्तमयनं तदासीत् साम्प्रतमयनं पुनर्वसुतः॥

(पञ्चसि० पौलिंशसिद्धान्ते। २१)

'आश्लेषा नक्षत्र के अर्धभाग से जब कि सूर्य की निवृत्ति थी तब वह पूर्वोक्त अयन युक्त था किन्तु अब तो पुनर्वसू से उक्त उत्तरायण निवृत्त है।' वाराहीसंहिता में अधिक स्पष्ट लिखा है—

आश्लेषार्द्धाद्दक्षिणमुत्तरमयनं धनिष्ठाद्यम्।
नूनं कदाचिदासीद् येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु॥
साम्प्रतमयनं सवितुः कर्कटाद्यं मृगादितश्चान्यत्।
उक्ताभावो विकृतिः प्रत्यक्षपरीक्षणै र्व्यक्तिः॥

(वाराहीसंहिता। ३। १-२)

अर्थात् आश्लेषा नक्षत्र के अर्धभाग से दक्षिणायन और धनिष्ठा नक्षत्र के आदि से उत्तरायण कभी था जो कि पूर्व शास्त्रों में कहा है। परन्तु अब दक्षिणायन कर्कट राशि के आदि से और दूसरा उत्तरायण मकर राशि के आदि से प्रारम्भ होता है। अतएव पूर्व कहे अयन का अभाव ही अयनपरिवर्तन है जो कि प्रत्यक्ष परीक्षणों से सिद्ध होता है।

अब हम एक और प्राचीन ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं, भारतीय विद्वानों एवं ऋषिमुनियों ने ई० सं० तथा हिपार्कस से सहस्रों वर्ष पूर्व ध्रुवप्रचलन या ध्रुवीय अक्षविचलन का निरीक्षण कर लिया था। देखिये—

ध्रुवस्य प्रचलनं 'पश्यामः'

(मैत्र्युपनिषद् । १ । ४)

इस पर रामतीर्थ आचार्य का संस्कृतभाष्य भी देखने योग्य है—

ध्रुवस्य सर्वज्योतिश्चक्रावलम्बनस्य प्रचलनम्।

(रामतीर्थ भाष्यम् । मैत्र्यु० १ । ४)

उक्त उपनिषद् ई० सं० से सहस्रों वर्ष पूर्व की है, इसका काल जानने के लिये इसीका वचन साक्षी है जोकि उस समय के अयनचलन को बतलाता है—

मघाद्यं श्रविष्ठार्धमाग्नेयं क्रमेणो-
त्क्रमेण सार्पाद्यं श्रविष्ठार्धं सौम्यम् ॥

(मैत्र्यु० ६ । १४)

यहां कहा है कि 'क्रम से मघा नक्षत्र के आदि से धनिष्ठा नक्षत्र के अर्धभाग तक आग्नेय अर्थात् उत्तरायण है और उत्क्रम अर्थात् विपरीत क्रम से सार्प अथात् आश्लेषा नक्षत्र के आदि से श्रविष्ठा अर्थात् धनिष्ठा नक्षत्र के आधे भाग तक सौम्य अर्थात् दक्षिणायन है।'

इस पर रामतीर्थ आचार्य के भाष्य में भी लिखा है—

द्वादशात्मकं वत्सरं तस्याग्नेयमर्धमर्धं वारुणम्—मघानक्षत्रमारभ्य श्रविष्ठानक्षत्रस्यार्धमर्धावसानं यावत्सविता क्रमेण नीचैः स्वचारगत्या भुङ्क्ते तावदाग्नेयं ...तथा सर्पाद्यं सर्पदेवत्याश्लेषानक्षत्रं सार्पं तत्प्रभृति श्रविष्ठोत्तरार्धान्तं यावत्सवितोत्क्रमेणोर्ध्वक्रमणेन स्वचारगत्या भुंक्ते तावत्सौम्यम्

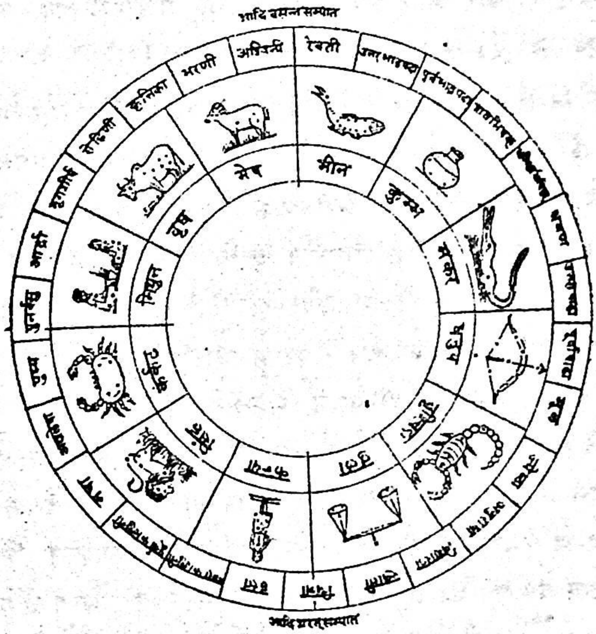
(मैत्र्यु० रामतीर्थ भाष्यम्)।

अब इसकी वराहमिहिर के समय से तुलना कीजिये—

वराहमिहिर का उत्तरायण......	मकर राशि की आदि से मिथुन राशि के अन्त तक। (¾ शेष उत्तराषाढा नक्षत्र से) (¾ आदि पुनर्वसू नक्षत्र तक)
मैत्र्युपनिषद् का उत्तरायण......	मघा नक्षत्र की आदि से ½ धनिष्ठा नक्षत्र तक। (सिंह राशि के आदि से) (मकर राशि के अन्त तक)

(देखो राशि-चक्र चित्र संख्या ५)

राशिचक्र चित्र संख्या ४



इस प्रकार तुलना से वराहमिहिर के उत्तरायण से मैत्र्युप-निषद् का उत्तरायण ७ राशि पूर्व या १५ ३/४ नक्षत्र पूर्व का हुआ क्योंकि अयनचलन की गति विलोम होती है, इस गणना से अयनचलन या सम्पातचलन की एक राशि अधिक अर्द्ध प्रदक्षिणा हो चुकी थी जिससे मैत्र्युपनिषद् का समय आजकल की योरोपियन सम्पातप्रदक्षिणा काल गणना के अनुसार वराहमिहिर से लगभग १५००० वर्ष पूर्व और मुञ्जाल की सम्पातप्रदक्षिणा-गणना के अनुसार लगभग १३००० वर्ष पूर्व होता है। वराहमिहिर

का समय श० सं० ४२७ अर्थात् ई० सं० ५०५ का बतलाया जाता है, इस प्रकार आज ई० सं० १९४४ में मैत्र्युपनिषद् का समय लगभग १६५०० या १४५०० वर्ष पूर्व हुआ। ‡

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि 'मैत्र्युपनिषद्' का "ध्रुवस्य प्रचलनं पश्यामः" ध्रुव प्रचलन ध्रुवीय अक्षविचलन या सम्पातचलन अथवा अयनचलन का आविष्कार ई० संवत् तथा हिपार्कस ज्योतिषी से सहस्रों वर्ष पूर्व भारतीय ऋषियों ने कर लिया था। सूक्त में "परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरतिव्यथिः" में उत्तर ध्रुव का व्योमकक्षा से पराङ्मुखचलन (परे-चलना-परे हटना) और मैत्र्युपनिषद् का उक्त ध्रुवप्रचलन समतोलन में वर्तमान है। इस वैदिक एवं प्राचीन ध्रुवप्रचलन के सिद्धान्त तक आज योरोपियन ज्योतिषी भी पहुंच रहे हैं, कहा जाता है कि आजकल ध्रुव के समीप वर्तमान जो तारा ध्रुवतारा कहलाता है चार सहस्र वर्ष पूर्व यह ध्रुवतारा ध्रुवतारा नहीं था किन्तु ध्रुव के समीप वर्तमान थूबन (Thuban) तारा ध्रुव तारा था, ध्रुव-

‡ इस साढ़े सोलह सहस्र या साढ़े चौदह सहस्रवर्ष की 'मैत्र्युपनिषद्' में भी वेद की सत्ता विद्यमान है तथा गायत्री मन्त्र की व्याख्या तक है "स्वधर्मोऽभिहितो वेदेषु" (मैत्र्यु० ४ । ३) "तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सविता स वा सम्प्रवरणीय आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गोदेवस्य धीमहि" (मैत्र्यु० ६ । ७) इस से भी श्रीयुत बालगङ्गाधर तिलक का वेदों की रचना ईसा से चार सहस्रवर्ष पूर्व मात्र बतलाना असत्य ठहरता है।

प्रचलन होने से वह चार सहस्र वर्ष पूर्व का ध्रुव तारा आज ध्रुव तारा नहीं है। अस्तु।

यहां एक और बात भी बतला देना आवश्यक है कि यह ध्रुवीय अक्षविचलन या सम्पातचलन पूर्ण प्रदक्षिणा करता है या दोलायमान होता है—झूलन (Wabbling) करता है? दोलायमान होने से तात्पर्य है बड़ी घड़ी में लगे हुए लटकन की भांति कुछ दाएं बांएं झूलते रहना—हिलते रहना—चलते रहना। इस विषय में भारतीय ज्योतिषियों और पाश्चात्य (योरोपियन) ज्योतिषियों का मत एकसा है, दोनों ओर के ज्योतिषी दोलायमान गति भी मानते हैं और पूर्णप्रदक्षिणा भी। अर्थात् कुछ भारतीय ज्योतिषी और कुछ योरोपियन ज्योतिषी तो दोलायमान गति मानते हैं और कुछ भारतीय एवं योरोपियन ज्योतिषी पूर्ण-प्रदक्षिणा मानते हैं, विशेषतः वर्तमान योरोपियन ज्योतिषी पूर्णप्रदक्षिणा ही मानते हैं। भारतीय ज्योतिषियों में सर्वप्रथम विष्णुचन्द्र और मुञ्जाल ने ही पूर्णप्रदक्षिणा मानी है।

इन दोनों के सिद्धान्त में अन्य भारतीय ज्योतिषियों ने यह दोष दिया कि यह इनका पूर्णप्रदक्षिणा का सिद्धान्त वेदबाह्य है कारण कि वेद में तो "मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू" (यजु० १३। २५) इत्यादि वचनों में चैत्र वैशाख के क्रम से दो दो मासों को वसन्त आदि ऋतुओं के कहा है किन्तु पूर्ण-प्रदक्षिणा में ऋतुएं बदल जायेंगी वसन्त ऋतु कभी चैत्र वैशाख में कभी वैशाख ज्यैष्ठ में कभी ज्यैष्ठ अषाढ़ में तो कभी आषाढ़

श्रावण में इत्यादि क्रम से हिरती फिरती रहेंगी, इससे श्रुति का बाध हो जाने एवं श्रुतिसम्मत न होने से सम्पात की पूर्ण-प्रदक्षिणा स्वीकरणीय नहीं है। इस प्रकार विष्णुचन्द्र और और मुञ्जाल की प्रदर्शित सम्पातप्रदक्षिणा के सिद्धान्त में यह दोष देना अयुक्त है कारणकि वेद में चैत्र वैशाख इस नाम से दो मास वसन्त ऋतु के हैं ऐसा तो नहीं कहा किन्तु मधु और माधव को वसन्त ऋतु के मास कहा है, चैत्र वैशाख आदि नाम चित्रा विशाखा आदि नक्षत्रों से सम्बन्धित मासों (चान्द्र मासों) के हैं किन्तु ऋतुओं का सम्बन्ध सूर्य के क्रान्तिवृत्त के साथ है। क्रान्ति वृत्त का विषुवद् वृत्त के साथ सम्पात (वसन्त सम्पात) होने से वसन्त आदि ऋतुएं प्रवर्तमान होजाती हैं. प्रवर्तमान वसन्त ऋतु के दो मास मधु और माधव कहलाएंगे चाहे वे नक्षत्रसम्बन्धी चैत्र वैशाख हों या वैशाख ज्येष्ठ हों अथवा ज्येष्ठ आषाढ़ हों किंवा कोई भी दो मास हों, मधु और माधव नाम तो यौगिक हैं "शतपथ" ब्राह्मण में भी कहा है "एतौ मधुश्च माधवश्च एव वासन्तिकौ मासौ यद्वसन्त ओषधयो जायन्ते वनस्पतयः पच्यन्ते तेनो हैतौ मधुश्च माधवश्च" (श० ४।३।१।१४) अर्थात् ये मधु और माधव नाम वसन्त ऋतु के दो मासों के इसलिये हैं कि वसन्त ऋतु में ओषधियां उत्पन्न होती हैं और वनस्पतियां पकती हैं। अतएव विष्णुचन्द्र और मुञ्जाल ज्योतिषी की प्रदर्शित सम्पातप्रदक्षिणा के सिद्धान्त में उक्त दोष नहीं आता है।

उक्त सम्पातचलन की पूर्णप्रदक्षिणा के सम्बन्ध में एक प्रश्न हमारे अन्दर उठता है कि यह सम्पात की पूर्णप्रदक्षिणा क्या पूर्ण दोलायमान गति के रूप में होती है जैसे घड़ी में बालकमानी-वाला चक्र (पहिया) पूर्ण दोलायमान गति करता है एक बार दाएँ पूरा घूम जाता है फिर एक बार बांए पूरा घूम जाता है, इस प्रकार दाँए बाँए पूर्ण दोलायमान गति सम्पात करता है या कि विशुद्ध पूर्णप्रदक्षिणा ? । इस पर विचार क्या भारतीय क्या योरोपियन किसी भी ज्योतिषी ने नहीं किया। साथ में एक दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि इस ध्रुवीय अक्षविचलन या सम्पातचलन के उक्त त्रिविध सिद्धान्त अर्थात् अल्प दोलायमान, पूर्णदोलायमान और विशुद्ध पूर्णप्रदक्षिणा में से वेद को कौनसा अभीष्ट है इसके उत्तर में प्रस्तुत मन्त्र अर्थात् जिसकी व्याख्या में हम यह सब कर रहे हैं उसमें ध्रुवप्रचलन ध्रुवीय अक्ष-विचलन या सम्पात चलन के लिये 'पराधावसि' शब्द दिया है जिसका अर्थ परे हटता है, पीछे हटता है, 'परा' का अर्थ परे या पीछे है "आ-इत्यर्वागर्थे प्र परा-इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्" 'आ' उपसर्ग अवर–अपनी ओर–इधर–आगे के अर्थ में है और 'प्र' 'परा' उपसर्ग इस 'आ' के प्रतिलोम–उलटे अर्थात् परे पीछे के अर्थ में है ऐसा मन्त्रार्थ में इस निरुक्त के प्रमाण से दर्शा आए हैं। सो वेद के 'पराधावसि' शब्द से न अल्प दोलायमान न पूर्ण दोलायमान होता है क्योंकि आगे पीछे दोनों अवस्थाओं में होना पड़ता है परन्तु वेद में 'पराधावसि' से ध्रुव प्रचलन की व्योम कक्षा से सदा

विलोम गति का ही निर्देश है, व्योमकक्षा की गति पूर्व से पश्चिम को है और ध्रुवीय अक्षविचलन सम्पातचलन इससे उलटा पश्चिम से पूर्व को होता है। अतएव ध्रुवप्रचलन ध्रुवीय अक्ष विचलन या सम्पातचलन विशुद्ध पूर्ण प्रदक्षिणा करता है। विष्णुचन्द्र और मुञ्जालप्रदर्शित सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा का सिद्धान्त वेदानुसार है ‡।

अब हम उसी 'पराहीन्द्र धावसि' मन्त्र की ओर आते हैं, व्योमकक्षारूप इन्द्राणी उत्तरीय ध्रुवरूप इन्द्र से जब यह कह चुकी कि हे इन्द्र ! तू वृषाकपि-सूर्य के लिये अतिव्याकुल हुआ मुझ से परे हटता जाता है अन्यत्र किसी समय मुझे सोमपीति के लिये भी प्राप्त नहीं होता" यह सुनकर उत्तरीय ध्रुवरूप इन्द्र क्या कहता है यह देखिये—

किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः।
यस्मा इरस्यसीदु न्वर्यो वा पुष्टिमद्वसु विश्व० ॥३॥

---

‡ विष्णुचन्द्र के मत में अयन चलन-सम्पातचलन की पूर्ण प्रदक्षिणाएँ कल्प भर में १८९४११ हैं यह पीछे बतला आये हैं और मुञ्जाल के मत में १९९६६९ पूर्ण प्रदक्षिणाएँ होती हैं जैसा कि कहा है "अयनयुगे यदुक्तं मुञ्जालाद्यैः स एवायम्। तत्पक्षे तद्भगणाः कल्पे गोङ्गर्तुनन्दगोचन्द्राः १९९६६९" (सिद्धान्तशिरो० गोलबन्धा०। १८) कल्प के सौरवर्ष चार अरब बत्तीस करोड ४३२००००००० हैं। इनमें से कल्प के आरम्भ और अन्त की संधियों का समय निकाल देने पर चार अरब इकत्तीस करोड पैंसठ लाख

अर्थ—हे व्योमकक्षारूप इन्द्राणी। (अयम्-अयं:-वृषाकपि:-हरित:-मृग: इम किरणों के स्वामी वृषाकपि अर्थात् सूर्यरूप

चवालीस सहस्त्र ४३१६५४४००० वर्ष हुए, इतने वर्षों में विष्णुचन्द्र के मत में १८६४११ प्रदक्षिणाएं और मुञ्जाल के मत में १६६६६६ प्रदक्षिणाएं हुईं हैं। इस गणना से एक प्रदक्षिणा का समय विष्णुचन्द्र के अनुसार २२७६० वर्ष और मुञ्जाल के अनुसार २१६३३ वर्ष हुए। आजकल के योरोपियन ज्योतिषियों के अनुसार २५६२० वर्ष होते हैं। जो लगभग समान हैं तथा लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक के 'ओरायन' (Orion) पुस्तक के अनुवाद "वेद कालनिर्णय" पुस्तक की टिप्पणी में २५६२० वर्ष मान लेने पर भी क्रान्तिवृत्त की एक प्रकार की उत्तरी दिशा की गति होने से वह समय २१००० वर्षों का ही रह जाता है" ऐसा लिखा है यदि यह बात सत्य है तब तो भारतीय मुञ्जाल ज्योतिषी के कहे २१६३३ वर्षों के साथ मेल हो जाता है मुञ्जाल ज्योतिषी ने अपने "लघुमानस करण" में अयनचलन की गति एक वर्ष में लगभग ६० विकला अर्थात् १ कला मानी है। पूर्ण प्रदक्षिणा वृत्त के ३६० अंश होते हैं और एक अंश में ६० कलाएं होती हैं। इस प्रकार २१६०० कलाएं हुईं अतः इतने ही वर्षों में पूरी प्रदक्षिणा होती है जिससे यह मुञ्जाल का मत स्पष्ट है विष्णुचन्द्र की गणना भी समान सी है। अयनचलन सम्पातचलन की वार्षिक गति के सम्बन्ध में क्या भारतीय क्या योरोपियन सभी ज्योतिषियों का थोड़ा थोड़ा मतभेद है, भारतीय ज्योतिषियों का विचार वर्ष में अयन चलन लगभग ४६ विकला से लेकर ६० विकला तक है,

मनोहर या सुनहरे मृग ने† (त्वां पुष्टिमत् वसु वा किं नु चकार) तेरे प्रति या तेरी बहुमूल्य वस्तु के प्रति क्या कर डाला अर्थात् व्यक्तिगत तुझे या तेरी बहुमूल्य वस्तुको क्या नुक्सान पहुंचाया ? (यस्मै-इरस्यसि-इत्-उ) जिसके लिये तू ईर्ष्या घृणा करती है ‡ ।

इन्द्राणी उत्तर देती है—

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि ।
श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्व० ॥४॥

पाश्चात्य ज्योतिषियों का विचार ४३ विकला से लेकर ५५ विकला तक है। अयनचलन की वार्षिक गति ठीक निर्धारित करने का भारतीयों क्या यूरोपियन ज्योतिषियों से भी सर्व प्रथम श्रेय मुञ्जाल को है उसने श० सं० ८५४ में आज से सहस्र वर्ष पूर्व अयनचलन की वार्षिक गति को बतलाया जो वर्तमान के योरोपियन ज्योतिषियों की मानी हुई अयनचलन की वार्षिक गति ५०.२ तथा ५०.४ विकला से मिलती हुई सी है।

†यह रूपकालङ्कार है, वेद में अन्यत्र भी सूर्य को मृग का रूपक दिया है "समुद्रादूर्मिमुदियर्ति वेनो....जानन्तो रूपमकृपन्त विप्रा मृगस्य" (ऋ० १०-१२३-४) यहाँ समुद्रसे वाष्पतरङ्ग के प्रेरित करने वाले सूर्य को मृग कहा है। तथा एक स्थान पर अग्नि को भी वेद ने मृग का रूपक दिया है "स ईं मृगो अप्यो वनर्गुरुप त्वच्युपमस्यां नि धायि। व्यब्रवीद्वयुना मर्त्येभ्योऽग्निर्विद्वाँ ऋतचिद्धि सत्यः (ऋ० १।१४५।५)

"‡ इरस् ईर्ष्यायाम्" (कण्ड्वादि०)।

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत् ।
शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्व० ॥५॥

अर्थ—(इन्द्र त्वं यम्-इमं प्रियं वृषाकपिम्-अभिरक्षसि) हे उत्तर ध्रुवरूप इन्द्र ! तू जिस अपने प्यारे वृषाकपि अर्थात् सूर्य की तरफदारी करता है (कपिः-मे प्रिया व्यक्ता तष्टानि व्यूदूदुषत्) उसी कपि-वृषाकपि † अर्थात् सूर्य ने 'अपनी योगतारा पर ही निर्भर न रहकर' मेरी-मुझ व्योमकक्षारूप इन्द्राणी की प्यारी चमचमाती हुई ‡ नक्षत्र ताराओं को दूषित कर दिया। अतः (वराहयुः श्वा-अस्य कर्णो-अपि नु जम्भिषत्) वराहयु नाम के श्वा ने—शूकर की इच्छा करने वाले कुत्ते ने इसके कान को ग्रस लिया। तथा (दुष्कृते न सुगं भुवम्) इस पापकारी के लिये मैं भली न बनूं—शान्त न होऊं। अतः (अस्य शिरः-नु राविषम्) मैंने भी इसके शिर को काट दिया।

इस मन्त्र में एक महत्त्वपूर्ण और विवरण करने योग्य बात है 'वराहयु श्वा ने सूर्य के कान को ग्रस लिया'। यहां श्वा का

---

† यहां 'वृषाकपि' शब्द के पूर्व पद 'वृषा का छन्द पूर्ति के लिये छान्दस लोप है, लोक में भी पूर्वपद के लोप का व्यवहार होता है जैसे महाभाष्य व्याकरण में लिखा है "पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः··· देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति" (महाभाष्यव्या० १।१।१)

‡ "व्यक्तं प्रकाशिते" (मेदिनी)

विशेषण वराहयु है इससे वह साधारण श्वा-कुत्ता नहीं है किन्तु शूकरों की इच्छा करने वाला अरण्यश्वा—जङ्गली कुत्ता है जिसे भेड़िया कहते हैं, संस्कृत में भेड़िये को 'वृकः' कहते हैं उसे अरण्यश्वा-जङ्गली कुत्ता भी कहते हैं "अरण्यश्वा वृकः" (हेमचन्द्रः) वह कुत्ते जैसा होता है "वृकः कुक्कुराकारे हरिणघातके व्याघ्रभेदे" (शब्दकल्पद्रुमः) अतः वृक-भेड़िया जङ्गली कुत्ता है। 'निरुक्त' में भी यह बात 'वृक' शब्द का निर्वचन करते हुए स्पष्ट लिखी है; वहां अन्य प्राकृतिक वस्तुओं को 'वृक' बतलाते हुए लोक प्रसिद्ध भेड़िये को भी 'वृक' कहते हैं यह दर्शाने को लिखा है "श्वापि वृक उच्यते-वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः" (निरुक्त ५।२१) "हिंस्रोऽपीन्द्रस्या-नुकूलो भवति (सायणः) वृक को हिंस्र कहा है जिसे निरुक्त में श्वा कहा है। इस प्रकार विवेचन से वराहयु श्वा वृक हुआ। यहां चूंकि रूपकालङ्कार है सूर्य के कान को ग्रसने वाला वृक चन्द्रमा है 'निरुक्त' में कहा है "वृकश्चन्द्रमा भवति" (निरुक्त ५।२०) वेद में अन्यत्र सूर्य को वराह कहा है "दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं निह्वयामहे" (ऋ० १।११४।५) अर्थात् किरणों वाले रूपप्रद देदीप्य-मान अरुण रंग वाले द्युलोक के वराह को चाहते हैं' इस प्रकार सूर्यरूप वराह की इच्छा करने वाला वराहयु श्वा वृक चन्द्रमा हुआ, चन्द्रमा ने सूर्य के कान अर्थात् कोण को ग्रस लिया अर्थात् सूर्य पर सूर्यग्रहण लग गया सूर्य को 'वराहयु' ग्राहरूप श्वा चन्द्रबिम्ब ने दबोच लिया†।

† हो सकता है सूर्य ग्रहण करने वाले इस वैदिक शब्द

वराहयु श्वा 'राहु' के द्वारा सूर्य रूप वृषाकपि को ग्रसे जाने पर उत्तरीय ध्रुवरूप इन्द्र दुखी तथा क्रोधित न हो इसलिये व्योम-कक्षारूप इन्द्राणी इन्द्र को प्रसन्न एवं अपनी ओर आकर्षित और मोहित करने के लिए अनेक हावभाव दर्शाते हुए कुछ प्रिय वचन कहती है और उत्तरध्रुवरूप इन्द्र भी इन्द्राणी की सब बातें मानते हुए उसके कृत्य से प्रसन्न नहीं होता इस प्रकार का वर्णन अगले छः मन्त्रों में है, उनमें गृहस्थ धर्म की बातें होने से हम इनका शब्दार्थ नहीं करते हैं किन्तु मन्त्र सब एक साथ देकर उनका संक्षिप्त आशय ही लिखते हैं।

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न शुयासत्तरा भुवत् ।
न मत्प्रच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्व० ॥६॥

'वराहयु' से ही राहु शब्द निकला हो, सूर्यग्रहण करने वाला चन्द्र मण्डलान्धकार राहु कहलाता है "राहुः तमसि तदधिष्ठातारि" (वाचास्पत्य०) वेद में अन्यत्र सूर्यग्रहणकारक सूर्य के आच्छादक को "स्वर्भानु' नाम दिया है "यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः" (ऋ० ५।४०।५) स्वर्भानु राहु को कहते हैं "राहुः तमः स्वर्भानु सैंहिकेय." (अमरः) ज्योतिष् ग्रन्थ 'सूर्यसिद्धान्त' में भी सूर्यग्रहण करने वाला सूर्य के आच्छादक को स्वर्भानु कहा है "स्वर्भानोर्वेदतर्काष्टद्विमोक्षार्थखकुञ्जराः" (सूर्यसि १२ । ८६) । इन प्रमाणों में राहु को सैंहिकेयः' भी कहा है सिंहिका सुत—शेरनी का पुत्र नाम भी मन्त्र में आए वराहयु श्वा-वृक के साथ तुलना खाता हुआ है ।

उवे अम्ब सुभालिके यथेवाङ्ग भविष्यति ।
भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्व० ।।७।।
किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने ।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्व० ।।८।।
अवीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्व० ।।९।।
संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्व० ।।१०।।
इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।
न ह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पति विश्व० ।।११।।

संक्षिप्त आशय—हे इन्द्र ! मुझसे बढ़कर सुभगा, सुखप्रदा, द्रवीभूता, प्रजनन-कर्म-कुशल कोई स्त्री नहीं है। हाँ, हे † प्रिय-भाषिणी सुखप्रदा देवी ! जैसा तू चाहती है वैसा ही हो सकेगा तेरे मुख आदि प्यारे अंग मुझे हर्षित करते हैं, अच्छा ! हे सुन्दर भुजा हाथों घने केशों पुष्ट जङ्घा वाली वीरपत्नी ! तू हमारे वृषाकपि का हनन क्यों करती है। हे इन्द्र ! यह 'शरारु' आक्रमण शील शरीर बालक मुझे अबला-जैसा समझता है अपितु मैं इन्द्रपत्नी मरुतों को सखा रखने वाली—'मरुतों वायुप्रवाहों के आधार पर गति करने वाली' वीरिणी हूं और फिर पुराकाल में स्त्री यज्ञ सम्मे-

† 'अम्ब' वैदिकं अव्ययं सम्बोधने ।

लन या संग्राम में भी पति के साथ जाती थी इसी कारण विश्व के सत्य सञ्चालन नियम की वि ात्री वीरिणी मैं इन्द्रपत्नी प्रशंसित की जाती हूँ। प्रिये इन्द्राणी! मैंने भी नारियों में इन्द्राणी को सुभगा सुना है तथा इसका पति मैं भी जरावस्था में भी नहीं मरता† ऐसे भी कहते सुना है ॥ ६-११ ॥

परन्तु—

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपे ऋते ।

यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति ॥१२॥

अर्थ—(इन्द्राणि-अहं सख्युः-वृषाकपेः-ऋते न रारण) हे इन्द्राणी मैं सूर्यरूप वृषाकपि सखा के बिना चैन नहीं पा सकता। कारण कि (यस्य-इदं प्रियं-अप्यं हविः-देवेषु गच्छति। जिस सूर्यरूप वृषाकपि की यह अप्य प्रिय हविः अर्थात् आकाश में‡ फैलने वाली प्यारी प्रकाश रूप हविः। देवों व स्थान के ग्रह उपग्रहों में पहुँचती है ॥१२॥

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।

घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्व० ॥१३॥

विज्ञप्ति—यह मन्त्र इस सूक्त में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, यही समस्त सूक्त का आत्मा और अतिकठिन मन्त्र है। यही मन्त्र श्री लोकमान बाल गङ्गाधर तिलक की 'ई० सं० मे चार सहस्र

---

† "नह्यस्या अपरामपि समां जरसा म्रियते पतिः" (निरुक्त ११·३८)

‡ "आपो ऽन्तरिक्षनाम" (निघं० १।३)

वर्ष पूर्व मात्र वेदों का रचनाकाल है, इस कल्पना पर पानी फेर देने वाला या उनके विचारदुर्ग का विध्वंस करने वाला है। वे अपनी उक्त कल्पना के विमोह में आकर इस मन्त्र का अर्थ न समझ सके, इसका अर्थ करते हुए बड़ी उलझन में पड़े, यहां वे कहते हैं कि 'इस ऋचा में वृषाकपायी शब्द ने बड़ी गड़बड़ मचाई है, अस्तु। वास्तव में इस मन्त्र में इन्द्र, इन्द्राणी, वृषाकपि इन तीन के अतिरिक्त यह 'वृषाकपायी' चतुर्थ व्यक्ति कौन है यह वे न समझ सके। 'वृषाकपायी' वृषाकपि की पत्नी है जो इन्द्र, इन्द्राणि और वृषाकपि से भिन्न चतुर्थ व्यक्ति है, निरुक्त में इसी मन्त्र पर स्पष्ट कहा है "वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी" (निरुक्त १२।६) वृषाकपि सूर्य है यह प्रथम ही निरुक्त के प्रमाण से बतलाया जा चुका है, वह वृषाकपायी कौन है यह मन्त्र में स्वयं रेवती शब्द से बतलाया हुआ है रेवती नक्षत्रनाम 'वृषाकपायि रेवति'। अब मन्त्र का अर्थ देखिये।

अर्थ—उत्तर ध्रुवरूप इन्द्र वृषाकपि की पत्नी अपनी पुत्रवधू 'रेवती' तारा को धैर्य देता है कि (वृषाकपायि रेवति सुपुत्रे-आत्-उ सुस्नुषे) हे सूर्यरूप वृषाकपि नामक मेरे पुत्र की पत्नी सुपुत्रा 'सुस्नुषा' प्यारी पुत्रवधू रेवती तारा! (ते-उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः-इन्द्र-घसत्) 'पतिवियोग में दुःखी न हो तू समझ कि' तेरे उक्षा वीर्यसेचक पति सूर्य को † स्थायी सूर्य-

---

† वेद में अन्यत्र भी सूर्य को उक्षा कहा—

अरुरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः।

(ऋ० ९।८३।३)

उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति। (ऋ० १०।३१।८)

सञ्चयरूप प्रिय हवि को इन्द्ररूप श्वसुर ने अपने खगोलरूप उदर में रख लिया ॥१३॥

कारण कि—

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्व० ॥१४॥

अर्थ—(मे हि पञ्चदश साकं विंशतिम्-उक्ष्णः पचन्ति) हे पुत्रवधू ! मेरे लिये ही—'मेरे खगोलरूप उदर को भरने के लिये ही' पन्द्रह साथ बीस अर्थात् पैंतीस उक्षाओं तेरे वीर्य-सेचक ग्रह-उपग्रहों को प्राकृतिक नियम सम्पन्न करते हैं—व्यक्त करते हैं† (उत-अहम्-अद्मि) उन्हें मैं खगोल में ग्रहण करता हूं‡ । अतः (पीवः) प्रवृद्ध हो गया हूं (मे-उभा कुक्षी इत् पृणन्ति) मेरी दोनों कोखें दोनों गोलार्ध पार्श्व ग्रहउपग्रहों से पूर्ण करते हैं ॥१४॥

---

† यहां 'पच' धातु का अर्थ आग पर पकाना नहीं है किन्तु सामान्यार्थ सम्पन्न करना व्यक्त करना मात्र है, ऐसे ही सायण ने भी "उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरा" (ऋ० १।१६४।४३) इस मन्त्र पर 'अपचन्त' का अर्थ सामान्य सम्पादन करना कहा है "अपचन्त अत्र धात्वर्थानादरेण तिङ्प्रत्ययः करोत्यर्थः स च क्रियासामान्यवचनः अत्रौचित्यादभिषवेण सम्पादितवन्त इत्यर्थः" (सायणः) ।

‡ "अत्ता चराचरग्रहणात्" (वेदान्त । १।२।६)

पूर्व मन्त्र में उक्षा शब्द रेवती तारा के वीर्यसेचक पतिरूप सूर्य के लिये आया था, इस मन्त्र में रेवती से सम्बन्ध रखने वाले पैंतीस उक्षा कहे हैं जोकि सब रेवती-योग-तारा से पृथक् कर दिये गये हैं। 'उक्षा' शब्द ग्रहों के लिये अन्यत्र भी वेद में आया है "अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः" (ऋ० १।१०५।१०) यहां मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि पांच ग्रहों को उक्षा कहा गया है कि 'ये पांच उक्षा महान् द्यु लोक में—विस्तृत आकाश में विराजमान हैं।' वे रेवती तारे के पैंतीस उक्षा ३५ सूर्य चन्द्र आदि ग्रह-उपग्रह हैं जिनमें ९ ग्रह और २६ उपग्रह हैं, पाश्चात्य ज्योतिषियों की पद्धति से भी पैंतीस ग्रह-उपग्रह होते हैं। उनकी पद्धति में सूर्य, पृथिवी, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, यूरेनस, नेपच्यून ये ९ ग्रह और उपग्रह पृथिवी का १ (चन्द्रमा), मङ्गल के २ बृहस्पति के ९ शनि के ९ यूरेनस के ४ नेपच्यून का १ अथवा वह नेपच्यून का उपग्रह न होकर स्वतन्त्र ग्रह है † यहां वेद में केवल ग्रह उपग्रहों की ३५ संख्या मात्र कही है इनमें कुछ ग्रह और कुछ उपग्रह हैं। पूर्व मन्त्र के उक्षा (सूर्य) की संख्या पिछले मन्त्र के ३५ से अलग समझी जावे तो एक ग्रह और मिल सकेगा। इन उपर्युक्त रेवती और ३५ ग्रह उपग्रहों वाले दोनों मन्त्रों में रेवती और उसके आश्रित ३५ ग्रह-उपग्रहों के वृत्तान्त से यह सिद्ध होता है कि कभी रेवती तारा पर समस्त

---

† वेद में इसे स्वतन्त्र ग्रह माना है यह आगे शनि आदि ग्रह प्रकरण में कहेंगे।

ग्रह उपग्रह एक सूत्र में अवलम्बित थे, वह ऐसा काल कौनसा था अब इसके लिए ज्योतिष्-शास्त्र की ओर चलिये—

शीघ्रगस्तान्यथाल्पेन कालेन महताल्पगः ।
तेषां तु परिवर्तेन पौष्णान्ते भगणः स्मृतः ॥
(सूर्यसिद्धान्त ।१।२७)

अर्थात् 'शीघ्रगति से चलने वाला ग्रह उन नक्षत्रों का अल्प काल से और अल्प चलने वाला ग्रह बहुत काल से भोग करता है, ग्रहगति से उन नक्षत्रों के परिवर्तन-चक्र से 'पौष्णान्ते' पूषाके अन्त अर्थात् रेवती नक्षत्र तारा के अन्त में परिक्रमा होती है। पूषा रेवती का देवतावाचक नाम है "रेवती नक्षत्रं पूषा देवता" (है० ४।४।१०।) वही ग्रहों के मार्ग को प्रारम्भ करती है यह तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी कहा है "पूषा रेवत्यन्वेति पन्थाम्" (तै० ३।१।२।४) अर्थात् पूषा देवता या रेवती नक्षत्र तारा ग्रहों के मार्ग को प्रेरित करती एवं लक्षित करती है। उक्त सूर्यसिद्धान्त के वचन में समस्त ग्रहों का चक्र पूरा होने का स्थान रेवती नक्षत्र का अन्त कहा है, इससे रेवती तारा सब ग्रहों का आदि आश्रयस्थान है, यही आशय सूर्यसिद्धान्त के भाष्यकार सिद्धान्त वागीश माधव पुरोहित की सौरदीपिका नामक संस्कृत टीका में दिया है वह देखने योग्य है "पौष्णान्ते रेवत्यन्ते यद्यपि क्रान्तिवृत्तस्थद्वादशराशिषु यत्स्थानमारभ्य चलितो ग्रहः पुनस्तत्स्थानं यदा प्राप्नोति स चक्रभोगो भवति तथापि ब्रह्मणा सृष्ट्यादौ क्रान्तिवृत्ते रेवतीयोगतारायां स्वस्वकक्षानुरोधेनोर्ध्वाधःक्रमेण ग्रहाणां निवेशनं कृतमतस्तदवधितश्चक्रभोगं कृतमिति

भावः" (सूर्यसि० १।२७) 'पौष्णान्ते' रेवती के अन्त में इस शब्द पर भाष्यकार ने प्रश्नपूर्वक स्पष्टीकरण किया है कि "यद्यपि, क्रान्तिवृत्तस्थ बारह राशियों में जिस स्थान (नक्षत्र) को आरम्भ करके चला ग्रह पुनः उस स्थान (नक्षत्र) को जब प्राप्त करता है वह चक्रभोग कहलाता है तथा ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में क्रान्तिवृत्त में रेवतीयोग तारा पर अपनी अपनी कक्षा के अनुकूल ऊपर नीचे के क्रम से ग्रहों को स्थापित किया अतः उस रेवती योगतारारूप अवधि से चक्रभोग निर्धारित किया है यह भाव है।"

उपर्युक्त सूर्यसिद्धान्त के वचन और उसके संस्कृतभाष्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रेवती योगतारा पर समस्त ग्रह उपग्रह एक साथ सृष्टि के आदि में वर्तमान थे।

और भी देखिये —

ध्रुवताराप्रतिबद्धज्योतिश्चक्रं प्रदक्षिणगमादौ ।
पौष्णाश्विन्यन्तरस्थैः सह ग्रहै ब्रह्मणा सृष्टम् ॥

(ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त मध्यमा० ।३)

अर्थात् ब्रह्मा ने सृष्टि की आदि में 'पौष्ण'—रेवती नक्षत्र और अश्विनी इन दोनों के बीच अर्थात् रेवती के अन्त में स्थित ग्रहों के सहित प्रदक्षिणा करने वाले ज्योतिश्चक्र को उत्तर दक्षिण के दोनों ध्रुवताराओं के बीच में रचा है।

उपर्युक्त ज्योतिष् के ग्रन्थ सूर्य सिद्धान्त और ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त के प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि समस्त ग्रहों का रेवती

योग तारा में आश्रय सृष्टि की आदि में होता है अतः प्रस्तुत सूक्त के इन १३ वें १४ वें मन्त्रों में वर्णित रेवती नक्षत्र तारा पर ३५ ग्रह उपग्रहों के अवलम्बन का वर्तमानवत वर्णन होने से श्री बालगङ्गाधर तिलक के समान वेदों के रचनाकाल का निर्णय किया जावे तो वह सृष्टि का प्रारम्भ सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त आदि सृष्टि का रेवती नक्षत्र पर वसन्तसम्पात भी आगे आने वाला है जो उक्त विषय को और भी पुष्ट करता है। अस्तु।

वृषभो न तिग्मशृङ्गोन्तर्यूथेषु रोरुवत्।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्व० ॥१५॥
न सेशे यस्य रम्बतेन्तरा सक्थ्या कपृत्।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्व० ॥१६॥
न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते।
सेदीशे यस्य रम्बतेन्तरा सक्थ्या कपृत् विश्व० ॥१७॥

इन तीनों मन्त्रों में इन्द्र और इन्द्राणी का गार्हस्थ्यविद्या-प्रदर्शनार्थ रहस्यमय गोपनीय संवाद होने से हम इनका अर्थ नहीं करते हैं किन्तु अगले १८ वें मन्त्र से ज्योतिषसम्बन्धी वर्णन को प्रस्तुत करते हैं।

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्व० ॥१८॥

अर्थ—इन्द्राणी ने वृषाकपि को मारने के जो प्रयत्न किये थे वे सब असफल रहे वृषाकपि न मर सका तब वह इन्द्र से आश्चर्य में कहती है (इन्द्र अयं वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्) हे इन्द्र! यह सूर्यरूप वृषाकपि परस्वान् पराश्रयी परजीवी उस वराहयुश्वा—जङ्गली कुत्ते को † मार पाया—मार

† 'परस्वन्तं हतम्' परस्वान् शब्द का अर्थ किसी वैदिक लौकिक कोष आदि में नहीं दिया है। सायण ने 'परस्वन्तं' परस्वमात्मनो विषये वर्तमानं' अर्थ किया है पर वह कौन है यह कुछ नहीं बतलाया। श्री बालगङ्गाधर तिलक भी इसका निर्णय न कर सके। मन्त्र में यहां उसके साथ 'हतम्' विशेषण होने से परस्वान् कोई प्राणी है यह तो स्पष्ट है। 'परस्वान्' शब्द ऋग्वेद में तो केवल इसी स्थल पर आया है यजुर्वेद में भी एक ही स्थल (२४।२८) पर आया है वहां इसके अर्थ पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, उवट महाधीर ने मृगविशेष अर्थ किया है, अथर्ववेद में यह दो स्थलों पर आया है, एक स्थल तो अथर्व० का० २० सूक्त १२६ है जोकि यही वृषाकपि का सूक्त है, हां दूसरे स्थल से इसके अर्थ पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है वह अथर्व० ६।७२।२ वाजीकरण-चिकित्सा का है वहां हस्ती अश्व गर्दभ के साथ परस्वान् का अर्थ श्वा—कुत्ता प्रतीत होता है सो यहां प्रस्तुत इस वृषाकपि के सूक्त में मन्त्र ४ में "श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुः" श्वा कहा भी जो श्वा वृषाकपि को

सका। तथा उसके नाशार्थं जो मैंने अन्य साधन रचे थे उन (असिं सूनां नवं चरुम्-आत-एधस्य-आचितम्-अनः) हिंसा करने वाली तलवार; बान्ध फंसाने वाले पाश रूप वधस्थान ‡, खिलाकर मारने वाले तुरन्त तैयार किये अन्न-विषान्न, पुनः जला मारने वाले ईंधन से भरे शकट को भी 'विदत्' उसने प्राप्त कर लिया स्वाधिकृत कर लिया ॥

इस मन्त्र में यह आया कि सूर्यरूप वृषाकपि को जो 'वराह्यु श्वा—चन्द्र विम्ब रूप वृक—राहु ने ग्रस लिया था पकड़ लिया था उसे सूर्यरूप वृषाकपि मार कर पुनः बाहर प्रकाशमान होगया।

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम् ।
पिबामि पाकसुत्वनोभि धीरमचाकशं विश्व० ॥१६॥

अर्थ—(अयं विचाकशत्-दासम्-आर्यं विचिन्वन्-एमि) यह मैं चमकता चमचमाता हुआ तथा दास और आर्य को पृथक् पृथक् करता हुआ आ रहा हूँ (पाकसुत्वनः पिबामि

मारने चला था, फिर प्रस्तुत मन्त्र १८ में वृषाकपि ने जो 'परस्वान्' मार डाला वह निःसन्देह वही मन्त्र ४ का 'श्वा' कुत्ता बड़ा कुत्ता भेड़िया है।

† 'विदत्' लुङ् का प्रयोग है "बहुलं छन्दस्यामाङ् योगे ऽपि" (अष्टा० ६।४।७५) से अट् का अभाव होता है।

‡ "सूना मृगपक्षिवधस्थाने" (कल्प द्रुमः ।

धीरमभिचाकशम्) पाकरस निकालने वाले का रस पीता हूँ और उस ओषधि पाकरस निकालने वाले धीर को चमकता हूँ-तेजस्वी बनाता हूँ। अथवा ओषधियों में रससञ्चार करने वाले चन्द्रमा रूप सोम का पीता हूं और चमकाता भी हूँ †।

मन्त्र में 'विचिन्वन् दासमार्यम्' दास और आर्य को पृथक् पृथक् करता हुआ कहा है। सूर्य जब सम्पात विन्दु पर होता है तब वह विषुवद् वृत्त पर भ्रमण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है, उस समय दिन रात बराबर हो जाते हैं। विषुवद् वृत्त भूगोल के ठीक मध्य में पूर्व पश्चिम दिशा में होता है, उसके दक्षिण में दक्षिणगोलार्ध और उत्तर में उत्तरगोलार्ध भूविभाग कहलाते हैं। दक्षिणगोलार्ध में रहने वालों को असुर दैत्य और उत्तर-गोलार्ध वासियों को देव नाम से ज्योतिष्-शास्त्र में कहा जाता है—

खे भूगोलस्तदुपरि मेरौ देवाः स्थितास्तले दैत्याः।
खे भगणाद्धाग्रस्थावुपर्यधश्च ध्रुवौ तेषाम् ॥
(सूर्य सिद्धान्त गोलाध्याय। ३)

यहां कहा है कि भूगोल के उत्तर में 'देव और दक्षिण में दैत्य रहते हैं उन देवों और दैत्यों के नक्षत्र चक्राग्राक्षस्थित उत्तर दक्षिण के दो ध्रुव हैं।

देवासुरा विषुवति क्षितिजस्थं दिवाकरम्।
पश्यन्त्वन्योन्यमेतेषां वामसव्ये दिनक्षये ॥
(सूर्यसिद्धान्त भूगोलाध्याय। ४७)

† "अथैषापरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा-यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः" (ऋ० १०।८५।५; निरुक्त ११।५)

अर्थात् जिस समय सूर्य विषुवद् वृत्त पर भ्रमण करता है तव उसे देव उदय होता हुआ देखते हैं तो असुर अस्त होता हुआ एवं जब देव अस्त होता हुआ देखते हैं तो असुर उदय होता हुआ देखते हैं।'

उपर्युक्त ज्योतिष्-शास्त्र के देव और असुर शब्दों के स्थान में वेद ने आर्य और दास शब्दों को उनके समकक्ष में रखा है अतः ये धार्मिक क्षेत्र के आर्य और दास नहीं है किन्तु ज्योतिष् के विशेष शब्द देव और असुर के पर्याय हैं अथवा आर्य का उत्कृष्ट और दास का निकृष्ट सामान्य अर्थ होकर उत्तर गोलार्ध और दक्षिण गोलार्ध के वाचक हैं जैसे सौन्दरानन्दमहाकाव्य में 'आर्या दृष्टिः' शब्द आया है। (सौ० महा०)।

मन्त्र में 'विचिन्वन् दासमार्यम्' में 'दासम्' दास शब्द प्रथम है अतः विचिन्वन्' विभाजन क्रिया में प्रथम दास को अलग करने–दास क्षेत्र अर्थात् दक्षिण गोलार्ध में से निवृत्ति सन्निकट दर्शाई है 'अयम्-एमि' प्रयोग भी वर्तमान काल के अतिसन्निकट का है "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा" (अष्टा-३। ३। १३१) अतः सूर्य सर्वसूर्यग्रहण से निवृत्त होकर आया ही कि दास को दास क्षेत्र निकृष्ट क्षेत्र-दक्षिण गोलार्ध को छोड़कर रेवती के सर्वथा अन्त में वसन्त सम्पात बनाता हुआ उदित हुआ, यह सूर्य का प्रथम उदय रेवती नक्षत्र के सर्वथा अन्त में वसन्त सम्पात पर सृष्टि के आरम्भ में होता है यह यहाँ जानने योग्य है। समस्त ग्रह रेवती नक्षत्र के सर्वथा अन्त पर अवलम्वित थे

यह १३ वें १४ वें मन्त्रों में कह आया है, समस्त ग्रह एक दिशा-विन्दु या सम्पात विन्दु पर थे पुनः चन्द्रमा शीघ्रगति के कारण एक पक्ष में सूर्य से विपरीत दिशा में ठीक सम्मुख चित्रा नक्षत्र पर पहुंच पौर्णमासी बनाकर चैत्र मास को प्रसिद्ध करता है अतएव सृष्टि के आरम्भ में रेवती नक्षत्र के अन्त में सूर्य का वसन्त सम्पात बनने से चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से सूर्य के प्रथम उदय होने से काल की प्रवृत्ति हुई, 'ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त' ज्योतिष-ग्रन्त में लिखा भी है—

चैत्रसितादेरुदयाद् भानोर्दिनमासवर्षयुगकल्पाः।
सृष्ट्यादौ लङ्कायां समं प्रवृत्ता दिनेऽर्कस्य ॥

(ब्राह्मस्फुट सिद्धान्तः १।४)

अर्थात् सृष्टि के आदि में भूगोल के भारत वर्षान्तर्गत लङ्का प्रदेश में 'विषुवद् वृत' पर † चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से रेवती के अन्त में वसन्तसम्पात विन्दु पर सूर्य के उदय होने से दिन मास वर्ष युग कल्प एक साथ रविवार के दिन चालू हुए।" उस समय सूर्य के वसन्तसम्पात विन्दु पर होने से वसन्त ऋतु का आर्तवमास तथा सूर्य का सौरमास 'मधुमास' का प्रारम्भ था, जैसाकि 'सिद्धान्त शिरोमणि' नामक ज्योतिष ग्रन्थ में कहा है—

---

† लङ्का आदि चार नगरियां विषुवद् वृत्त पर हैं—

तासामुपरिगो याति विषुवस्थो दिवाकरः।
न तासु विषुवच्छाया नाक्षस्योन्नतिरिष्यते ॥

(सूर्य सि०।२।४२)

लङ्कानगर्यामुदयाच्च भानोस्तस्यैव वारे प्रथमं बभूव।
मधोः सितादेर्दिनमासवर्षयुगादिकानां युगपत् प्रवृत्तिः ॥
(सिद्धान्त शि० मध्यमा० १५)

उपर्युक्त ज्योतिष् ग्रन्थों के प्रमाण से स्पष्ट होगया कि सृष्टि के आरम्भ में सूर्य रेवती के अन्त पर वसन्त सम्पात बनाता हुआ उदित होता है। अस्तु। जबकि सूर्यरूप वृषाकपि ने 'अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन् दासमार्यम्' यह मैं दास और आर्य का विभाजन करता हुआ—दक्षिणगोलार्ध और उत्तरगोलार्ध को विभक्त करता हुआ आ रहा हूँ तब उत्तर ध्रुवरूप इन्द्र उसे क्या कहता है यह अगले मन्त्र में देखें।

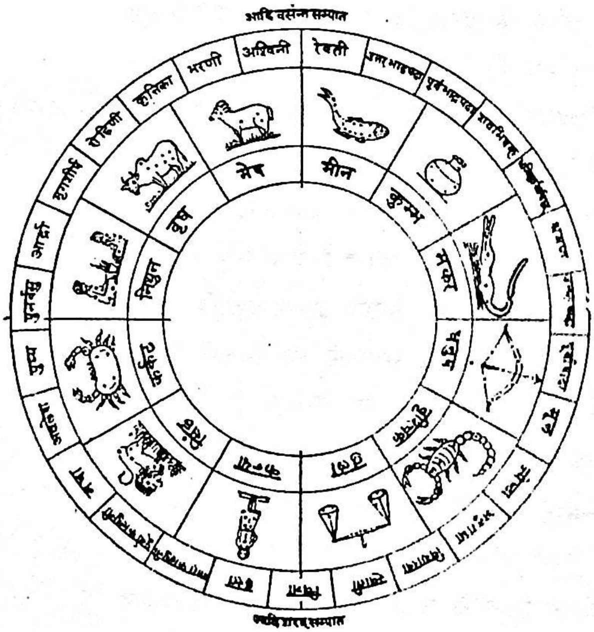
उत्तर ध्रुवरूप इन्द्र कहता है—

धन्व च यत् कृन्तत्रं च कतिस्वित्ता वि योजना।
नेदीयसो वृषाकपेस्तमेहि गृहाँ उप विश्व० ॥२०॥

अर्थ—(वृषाकपे धन्व च यत् कृन्तन्त्रं च) हे सूर्यरूप वृषाकपि 'धन्व' चाप धनुष् की कमान "धन्व चापे" (भरतः-वाचस्पत्यः) और जो 'कृन्तत्र' काटने का साधन शर धनुष का शर बाण-तीर "कृती छेदने" (तुदादि०) "कृतेर्तुम् च" (उणादि० ३। ३०। ६) एवं चाप और शर एवं कमान और तीर (कतिस्वित् ता योजना) कुछ ही उतने योजन पर हैं कि (अस्तं व्येहि) तू अपने आर्य-दास—उत्तरगोलार्ध दक्षिणगोलार्ध के विभाजक वसन्तसम्पातगृह

को छोड़े † और (नेदीयसः-गृहान्-उप-'उपेहि') समीपी नजदीकी अगले घरों में गति करे 'तब तू हमारे पास आ सकता है' ॥ २० ॥

मन्त्र में देवासुर के विभाजन वसन्तसम्पात स्थान से कुछ ही दूर पर धन्व और कृन्तत्र अर्थात् चाप और शर तक मार्गमात्र का तय करना ही सूर्यरूप वृषाकपि का उत्तर ध्रुवरूप इन्द्र के यहां पहुंच जाना है यह सूचित किया है। १३ वें और १४ वें



† "प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च — चकारात् लोट् च" (अष्टा० ३ । ३ । १६३) यहां 'त्येहि, उपेहि' प्राप्तकाल अर्थ में लोट् है ।

मन्त्रों द्वारा बतलाया गया है कि सूर्य रेवती नक्षत्र के अन्त पर दक्षिणगोलार्ध और उत्तरगोलार्ध का विभाजन करता हुआ उदित हुआ, वहां से नक्षत्रपरिधि या नक्षत्रवृत्त की चाप रेखा रेवती के अन्त के सम्मुख चित्रा नक्षत्र पर होती है और चाप का शर रेवती नक्षत्र के अन्त से ६० अंश पर अर्थात् आगे तीन राशि चलकर मिथुनान्त विन्दु या पुनर्वसु नक्षत्र का तृतीयभागान्त है (देखो चित्र में पिछले पृष्ठ पर) पुनर्वसु नक्षत्रकी आकृति भी धनुष जैसी है "शरासनाकृतिन्यम्बरस्य सुरमातृभे" (ज्योतिर्विदाभरणे) यही उत्तरायण का परम विन्दु या उत्तरगोलार्ध में सूर्य के पहुंचने का स्थान उत्तर ध्रुव का स्थान है। सूर्यसिद्धान्ते में कहा भी है—

मेषादावुदितः सूर्यस्त्रीन् राशीनुदगुत्तरम् ।
सञ्चरन् प्रागहर्मध्यं पूरयेन्मेरुवासिनाम् ॥

(सूर्यसि० १२ । ४८)

अर्थात् मेष राशि के आदि में (रेवती के अन्त पर) सूर्य उदय होकर मेष, वृष, मिथुन तीन राशियों में उत्तर को सञ्चार करता हुआ प्रथम उत्तर ध्रुव वासियों का 'अहर्मध्य' मध्यान्ह को पूरा करता है अतः मिथुनान्त उत्तर ध्रुव का स्थान है।†

† मन्त्र में आए 'नेदीयसः' का अर्थ करते हुए श्री लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने महर्षि पाणिनि की भी खिल्ली उड़ाई है कि "पाणिनि को 'नेदीयसः' शब्द का मूल नहीं मिला जो "अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ" (अष्टा० ५ । ३ । ५३)

पुनः इन्द्र और इन्द्राणी दोनों सूर्यरूप वृषाकपि को कहते हैं—

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।
य एष स्वप्ननंशनोस्तमेषि पथा पुनर्विश्व० ॥२१॥

अर्थ—(वृषाकपे यः- एष स्वप्ननंशनः पथा पुनः-अस्तम्-एषि) हे सूर्यरूप वृषाकपि ! जो यह तू स्वप्न का नाशक-निद्रा का नाशक

सूत्र से 'नेदीयस्' और 'नेदिष्ठ' शब्दों को 'अन्तिक' शब्द से सिद्ध किया है । उसके समय में अन्तिक के सिवाय दूसरा अर्थ नहीं था ऐसा नहीं माना जा सकता" यह कहकर 'नेदीयस्' का अर्थ उन्होंने 'नीचे' से किया है । परन्तु उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि 'नेदीयस्' विशेषण **शब्द है,** वह यहां मन्त्र में किसका विशेषण है ? 'नीचे से' ऐसे अर्थ में इसका विशेष्य मन्त्र में कोई होना चाहिये । स्मरण रहे इस प्रकार पञ्चमी विभक्ति में मन्त्र के अन्दर कोई पद नहीं है जिसका यह विशेषण हो, वास्तव में 'नेदीयसः' यह तो द्वितीयान्त (द्वितीया का बहुवचन में) पद है जो कि मन्त्र में पढ़े हुए 'गृहान्' का विशेषण है । उन्होंने यहां एक और भूल यह भी की है मन्त्र की ऊपर वाली पंक्ति में आए हुए 'वि' उपसर्ग को अर्थ में छुआ तक नहीं 'वि' और 'उप' उपसर्ग मन्त्र में अलग अलग होने से 'ऐहि' क्रिया को अपने अपने साथ दोहराते हैं 'व्येहि' और 'उपेहि' । 'व्येहि' क्रिया का 'अस्तम्' के साथ और 'उपेहि' का 'गृहान्' के साथ सम्बन्ध है, अर्थात् 'अस्तं व्येहि' वर्तमान घर को छोड़, और 'नेदीयसः-गृहान् उपेहि' समीपवर्ती-

'हमारे स्थान उत्तरगोलार्ध को प्राप्त होकर' मार्ग से फिर अपने घर जाने को उद्यत है (पुनः-एहि) फिर आना (सुविता कल्पयाव-है) हम दोनों इन्द्र और इन्द्राणी तेरे लिये उत्तम रसों को तैयार करेंगे ॥

नजदीकी घरों को प्राप्त हो। यह शैली वेद में स्थान स्थान पर पाई जाती है, यथा "तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं" (यजु० ३२।८) यहां 'समेति च व्येति च' से तात्पर्य है। श्री बालगंगाधर तिलक ने 'नेदीयस्' शब्द के नीचे अर्थ की पुष्टि में ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ ऐसे वचन दिये हैं जिनमें 'नेदीयस्' और 'नेदिष्ठ' शब्द आए है। वहां भी वे वाक्यार्थ न समझ सके किन्तु उन वचनों में भी समीप अर्थ ही हैं। नेदीयस् और नेदिष्ठ के सम्बन्ध में वेद वचन तो उन्होंने स्वपक्ष के साधक न समझ कर नहीं दिये। हम एक या दो वचन वेद के भी परिचयार्थ प्रस्तुत कर देते हैं 'परं नेदीयो ऽवरं दवीयः' (अथर्व १०।८।८) यहां कहा है कि पर समीप नजदीक है अवर दूर है तथा "त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं नक्षामहे वृधे' (ऋ० ८।६०।१०) हे अग्नि तुझ ही नजदीकी सम्बन्धी को देवों की वृद्धि के लिये प्राप्त करते हैं। इन वचनों में 'नेदीयस्' और 'नेदिष्ठ' का समीप-नजदीक अर्थ स्पष्ट है। जिन ब्राह्मण वचनों को श्री बालगंगाधर तिलक ने 'नेदीयस' का नीचे अर्थ करने की पुष्टि में दिया है उनमें भी आए हुए 'नेदीयस्' और 'नेदिष्ठ' का अर्थ नीचे नहीं किन्तु समीप-नजदीक हैं, देखिये—

इस मन्त्र में उत्तर गोलार्ध में पुनः पुनः आने और सूर्य के घर पूर्व पश्चिम रेखा पर अपर सम्पात स्थान को जाने का वर्णन उत्तरायण और दक्षिणायन की पुनः पुनः प्रवृत्ति का निर्देश करता है॥ २१ ॥

यथा महावृक्षस्याग्रं स्पृत्वा नेदीयःसंक्रमात् संक्रामत्येवमेत्र नेदीयः-संक्रमया नेदीयः संक्रमात् संक्रमति ॥ (ऐ ३।४।२)

यह वचन श्री बालगंगाधर तिलक ने दिया है, इस वचन से पूर्व का दिया ब्राह्मणवचन भी देखिये उससे इस 'नेदीयस्' शब्द का अर्थ खुल जाता है—

एकादशभ्यो हिङ्करोति--स तिसृभिः स पञ्चभिः स तिसृभिरेका-दशभ्यो हिङ्करोति-स तिसृभिः स तिसृभिः स पञ्चभिरेकादशभ्यो हिङ्करोति स पञ्चभिः स तिसृभिः स तिसृभि र्नेदीयःसंक्रमेण-अन्तो वै त्रयस्त्रिंशो यथा महा वृक्षस्याग्रं स्पृत्वा नेदीयःसंक्रमात् ॥

उक्त ब्राह्मणवचन में ऋचाओं की तैंतींस संख्या पूरी करनी है सो तीन वार ग्यारह ग्यारह करके परन्तु अयुग नेदीयः संक्रम--समीपवर्ती क्रम से 'नजदीकी' तरतीव से कहा है कि प्रथम वर्ग में ग्यारह के लिये हिङ्कार करता है तीन से पांच से तीन से एवं ग्यारह हुए, फिर द्वितीय वर्ग में ग्यारह के लिये हिङ्कार करता है तीन से तीन से पांच से ग्यारह हुए, पुनः तृतीय वर्ग में ग्यारह के लिये हिङ्कार करता है पांच से तीन से तीन से ग्यारह हुए। 'नेदीयः संक्रमया यह अयुग समीपी संक्रम— नजदीकी तरतीब है अर्थात् तीन से पांच पर जाना पुनः पांच से तीन

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।
क्व स्य पुल्वगो मृगः कमजगञ्जनयोपनः ॥२२॥

अर्थ—(वृषाकपे यत्-उदञ्चः-गृहम्-अजगन्तन) हे सूर्यरूप वृषाकपि ! जब तुम उदङ् मुख होकर अर्थात् उत्तरगोलार्ध में होते

पर आना, इनको जैसे तैसे हेर फेर कर ग्यारह संख्या पूरी करना । 'तीन, सात, एक' भी अयुग संख्या ग्यारह पूरा करा सकती हैं पर यह 'नेदीयः-संक्रमा समीपी पद्धति-नजदीकी तरतीव नहीं है किन्तु 'नेदीयः संक्रम' समीपी ढंग (नजदीक तरीका उपादेय) होता है, जैसे किसी महावृक्ष (बड़े वृक्ष) के अग्रभाग (चोटी) को 'नेदीयः संक्रमः' समीपी क्रम नजदीक तरतीब से छू कर 'नेदीयः संक्रम' समीपी क्रम-नजदीकी तरतीव से उतरता है, एवं तीन पांच के अयुग समीपी संक्रम-नजदीकी तरतीव से ग्यारह पूरे करता है । सायण ने भी यहां समीप-नजदीक अर्थ किया है "नेदीयसि अन्तिकतमे" (सायणः) ।

दूसरे स्थल ऐतरेय ब्राह्मण के वचन "उपरिष्टान्नेदीयसीवोपरिष्टान्नेदीयसीव वा इयं वाक्" (ऐ० ब्रा० ६।२७) में भी श्री बालगङ्गाधर तिलक ने एक बड़ी भारी आश्चर्यजनक भूल की है उन्होंने यहां उपरिष्टात् के साथ 'नेदीयस्' का प्रयोग देख उसका नीचे अर्थ किया है परन्तु इस बात को निरुक्त के पढ़ने वाले जानते हैं कि 'उपरिष्टात्' का अर्थ ग्रन्थ या प्रकरण या शब्दसमूह का अगला भाग कहलाता है जैसे निरुक्त में स्थान स्थान पर यह प्रयोग आता है यथा—"सोमास इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः" (निरु ६।१०) "परितकम्येत्युपरिष्टाद्

हुए घर को चले जाते हो 'तब लोग आश्चर्य में होकर मुझे पूछते हैं कि, (इन्द्र स्य-पुल्वगः-जनयोपनः-मृगः क्व कम्-अगन्) हे इन्द्र ! वह बहुभक्षी * जनमोहक वृषाकपि मृग सूर्य मृगरूप कहां किस प्रदेश में चला गया ॥ २२ ॥

सूर्यरूप वृषाकपि कहता है—

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् ।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयद्विश्व० ॥२३॥

अर्थ—(मानवी ह पर्शुः-नाम) हे उत्तर ध्रुवरूप इन्द्र !

व्याख्यास्यामः" (निरु० ४।१६) "तद्यद्देवतावदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः" (निरुक्त २।२३,२८) 'नेदीयस' का अर्थ समीपवर्ती-नजदीकी है, यहां नाराशंस सूक्त को नाभानेदिष्ट सूक्त से पहिले पढ़ना चाहिये या पीछे या मध्य में यह प्रश्न है, वहां यह निर्णय किया है कि मध्य एव शंसेन्म-ध्यायतना वा इयं वाक्" मध्य में पढ़ना चाहिये कारण कि "उपरिष्टा-न्नेदीयसीवोपरिष्टान्नेदीयसीव वा इयं वाक्" उपरिष्टात् अर्थात् नाभानेदिष्ठ सूक्त के आगे के भाग—अवसान भाग के समीप निकट २७ ऋचाओं में से दो ऋचाओं के पूर्व पढ़ना चाहिये। सायणभाष्य में भी "नेदीयान-त्यन्तसमीपवर्ती" लिखा है। काठकसंहिता का भी जो वचन "नेदिष्ठेन स्वर्गलोकमारोहति" (काठक सं० २८।४) उन्होंने दिया है उसमें भी 'नेदिष्ठ' का समीप अर्थ ही है अत्यन्त समीप से ही स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। अस्तु।

* "पुल्वघो बह्वादी (निरुक्त १३।३)

मनु अर्थात् संवत्सर की† पर्शु–सम्पातरूप दिशा–कोणदिशा ने‡ (साकं विंशतिं ससूव) साथ बीस अर्थात् बीस के साथ पन्द्रह एवं पैंतीस * ग्रह उपग्रहों को उत्पन्न किया § (भल त्यस्याः–भद्रम्-अभूत्) हे कल्याणकारी $ इन्द्र ! उसका 'उस मेरी माता का' कल्याण हो (यस्याः-उदरम्-आमयत्) जिस के उदर ने हमें आश्रय दिया और बाहर प्रेरित किया 'मैं उसकी शरण में चला जाता हूँ' ॥ २३ ॥

सूक्त का आशय—उत्तरीय ध्रुव एवं व्योमकक्षा का प्रादुर्भाव और सूर्य आदि समस्त ग्रह उपग्रहों का व्योम-कक्षाश्रित रेवती नक्षत्ररूप योगतारा के अन्त पर एक साथ

---

† "प्रजापति वै मनुः" (श० ६।६।१।१६) संवत्सरो वै प्रजापतिः" (श० २।३।३।१८)

‡ "अवान्तरदिशः पर्शवः" (बृहदारण्यको० १।१।१) § इस चिन्ह का 'सन्तति' फुट नोट भी देखें।

* यहां का 'साकं ससूव विंशतिम्' १४ वें मन्त्र के 'पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिं' का अनुस्मरण है जैसे 'मे कपिर्व्यक्ता' मन्त्र ५ में 'कपि' शब्द पूर्वोक्त 'वृषाकपिश्चिकार' मन्त्र ३ के वृषाकपि का अनुस्मरण है।

§ "सन्ततिर्वा एते ग्रहाः। यत्परः सामानः । विषुमान्दिवाकीर्त्यम्। यथा शालायै पक्षसी एवं संवत्सरस्य पक्षसी" (तै० ब्रा० १-२-३-१)

$ "भल आभण्डने" (चुरादि०)

वर्तमान या प्रकट होना, उत्तर ध्रुव पर अवलम्बित हुई व्योम-कक्षा द्वारा सूर्य का चन्द्र बिम्बाच्छादनरूप ग्रहण से मुक्त होना पुनः सर्व सूर्य ग्रहण से मुक्त हो रेवती नक्षत्र के अन्त में सूर्य के वसन्त सम्पात विन्दु पर गमन करने से भूगोल पृष्ठ पर उत्तर गोलार्ध और दक्षिण गोलार्ध का विभाजन तथा सूर्य का उक्त गोलार्धों में वारी वारी से दृष्टिगोचर होना, उत्तरायण और

णायन का उपपन्न होना, ध्रुवप्रचलन-ध्रुवीय-अक्षविचलन-सम्पातचलन-अयनचलन की पूर्ण प्रदक्षिणा, उत्तरी ध्रुव का सूर्य व्योमकक्षा नक्षत्रगण चन्द्रमा अन्य ग्रहों पृथिवी के साथ सम्बन्ध आदि विषय सूक्त के विशेष उल्लेखनीय हैं। आदि सृष्टि में रेवती नक्षत्र के अन्त में समस्त ग्रह उपग्रहों का अवलम्बन और वहीं सूर्यग्रहण तथा वसन्तसम्पात का बनाना । इन बातों के सम्बन्ध में तत्तत्स्थल पर हम ज्योतिष ग्रन्थों के प्रमाण देते रहे हैं तथापि विशेष परिचयार्थ ज्योतिषाचार्यों की सम्मति भी प्रस्तुत करते हैं जिन से हमने प्रश्न किए थे

ज्योतिष् विभागाध्यक्ष हिन्दूविश्व विद्यालय काशी की सम्मति—

(प्रश्न) सृष्टि के आरम्भ में वसन्तसम्पात किस नक्षत्र पर था ?

(उत्तर) रेवती पर ।

(प्रश्न) सृष्टि के आरम्भ में सर्वसूर्यग्रहण का होना क्या युक्तिसंगत एवं ज्योतिष् शास्त्र के अविरुद्ध है ?

(उत्तर) हाँ ।

श्री राम प्रभा ज्योतिषी

ज्योतिषाचार्य गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस की सम्मति —

(प्रश्न) पूर्ववत् ।

(उत्तर) सृष्टि के आरम्भ में पूर्वसम्पात रेवती नक्षत्र के अन्त पर था और सभी ग्रह रेवत्यन्त पर थे ।

(प्रश्न) पूर्ववत् ।

(उत्तर) उस समय 'सृष्टि के आरम्भ में' जब कि सभी ग्रह (बिम्बात्मक) तुल्य (शून्य) राश्यादि पर एक सूत्रसंसक्त थे, तावतैव चन्द्रसूर्य के केन्द्रीययोगात्मक सूर्यग्रहण भी युक्ति युक्त है ।

अनूप मिश्र

दक्षिण ध्रुव—

वेद में उत्तरध्रुव को इन्द्र और दक्षिण ध्रुव को यम कहते हैं, उत्तरध्रुव रूप इन्द्र उत्तर में वर्तमान है यह बतलाया जा चुका है अब दक्षिण ध्रुवरूप यम दक्षिण में वर्तमान है. देखिये—

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥

(अथर्व० ४ । ४० । २)

यहां मन्त्र में यम को दक्षिण दिशा में स्पष्ट कहा है ।

तथा—

नराशंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा ।
सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना ॥

(ऋ० १० । ६४ । ३)

इस मन्त्र में "सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं०" द्योतमान आकाश में सूर्य चन्द्रमा और त्रित अर्थात् इन्द्र‡ वर्तमान हुए कहा है। द्योतमान आकाश में सूर्य चन्द्रमा के साथ यम का वर्तमान होना उसे दक्षिण ध्रुव सिद्ध करता है, उक्त पंक्ति में प्रतिद्वन्द्वी मीमांसा अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा जैसे परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं एक दिन का देवता तो दूसरा रात्रि का देवता तथा एक पूर्व में उदय होता है तो दूसरा पश्चिम में उदय होता है (प्रथम दर्शन देता है), एवं त्रित इन्द्र उत्तर ध्रुव उत्तर का ध्रुव तो यम दक्षिण ध्रुव दक्षिण का ध्रुव ही है यह सुतरां सिद्ध होता है।

और भी—

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्।
आणिं न रथ्यममृताधितस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥

(ऋ० १। ३५। ६)

यहां मन्त्र में कहा है कि 'तीन द्युमण्डल-प्रकाशमण्डल हैं वे उत्तर मध्य और दक्षिण के भेद से। मध्य का द्युमण्डल तो सवितृमण्डल है जिस में सविता अर्थात् सूर्य गति करता हुआ दृष्टिगोचर होता है परन्तु दो द्युमण्डल-प्रकाशमण्डल सविता अर्थात् सूर्य के उपस्थ में अर्थात् आस पास में उत्तर दक्षिण के पार्श्व में हैं जिनमें से—जिन दो में से एक विराषाट् गति धाराओं की सहन करने वाली द्यौः या गतिप्रवाह का सङ्गम प्रकाशमण्डल यम के भुवन में अर्थात् दक्षिणगोलार्ध में है और दूसरा उत्तर-

---

‡ "त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रः" (निरुक्त ६। २५)

गोलार्ध में है यह अर्थापत्ति से आया। इस प्रकार उत्तर गोलार्ध और दक्षिण गोलार्ध के दोनों ध्रुवों में 'अमृत' हिरण्यसदृश † सुनहरे पिण्ड ग्रहनक्षत्र तारे ऐसे आश्रित गतिमान् हो रहे हैं जैसे रथचक्राग्रस्थित कीलबन्धन के आश्रित हो रथचक्र गति करते हैं।

उपर्युक्त वर्णन में यम दक्षिण गोलार्ध का आश्रयदाता होने और दक्षिणगोलार्ध के ज्योतिष्पिण्डों को रथचक्र कीलबन्धन की भांति सम्भालने से यम निश्चित दक्षिण ध्रुव सिद्ध होता है साथ में दक्षिण ध्रुव का कार्य भी स्पष्ट हो जाता है कि वह दक्षिण गोलार्ध के ज्योतिष्पिण्डों को अपने आश्रित गतिमय बनाये रखता है।‡

अस्तु।

इस प्रकार उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव खगोल के समस्त ज्योतिष्पिण्डों को स्थिर दिशा में रखते हुए मणियों में ओत प्रोत सूत्र की भांति रक्षक हैं।

---

† अमृतं वै हिरण्यम्" (श० ६। ४। ४५)

‡ "आणिः-अक्षाग्रकीलकः-सीमा" (मेदिनी)

"आणिः रथचक्राग्रस्थकीलके" (वाचस्पत्यम्)

वरुण (परिधिमण्डल) और वातसूत्र

समस्त ज्योतिष्पिण्ड आकाश में ध्रुव को धुरी मानकर घूमते हैं परन्तु जिस परिधिमण्डल (घेरे) में ध्रुव उन्हें घुमाता है वह वेद में वरुण नाम से कहा गया है, वरुण शब्द वरने अर्थवाले 'वृ' धातु से बना है "वृञ् वरणे" (स्वादि०) कृवृदारिभ्य उनन्" (उणा० ३ । ५३) ज्योतिष्पिण्डों को वरने अपने आश्रित रख गतिमान् करने के कारण परिधिमण्डल वरुण है जो कि यन्त्र(मैशीन) में चक्रों को घुमाने वाले अथवा टैंक यान के चक्रों को आगे गतिमान् बनाने वाले पटाह, जंजीर (Belt) के समान आकाश

में ध्रुव से ही प्रसृत हुआ है। वरुण का स्थान ध्रुव है और वह वरुण समस्त ज्योतिष्पिण्डों को अपने आश्रित गतिमान् करता है यह निम्न मन्त्र में देखें—

यस्य श्वेता विचक्षणा तिस्रो भूमीरधिक्षितः
त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य ध्रुवं सदः सप्ता-
नामिरज्यति नभन्तामन्यके समे ॥

(ऋ० ८।४१ ६)

अर्थ—(यस्य-अधिक्षितः-वरुणस्य ध्रुवं सदः) जिस केन्द्रित गति करने वाले † वरुण का 'ध्रुव' स्थान है। तथा जिसके (श्वेता उत्तराणि त्रिः विचक्षणा तिस्रःभूमीःपप्रतुः) जल में नौकाओं की भांति तरने वाले—ऊपर चलने वाले शुभ्र चमकदार तीन प्रकार के विशेष दृश्य नक्षत्र ग्रह तारे तीन भूमियों उत्तर दक्षिण आकाश प्रदेशों को प्रपूर्ण कर रहे हैं। वह वरुण (सप्तानाम्-इरज्यति) सात प्रकार के मार्गप्रदेशों पर स्वामित्व करता है ‡

वरुण सूर्य के लिये मार्ग देता है—

उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।

ऋ० १।२४।८

अर्थ—(राजा वरुणः सूर्याय-अन्वेतवे-उ-उरुं हि पन्थां चकार) आकाशीय मार्गप्रदेशों के राजा स्वामी रूप वरुण अर्थात् परिधि-मण्डल ने सूर्य के लिये गति करने को विस्तृत मार्ग बनाया है।

† "क्षि निवासगत्योः" (तुदादि)

‡ "इरज्यति ऐश्वर्यकर्मा" (निघं० २।२१)

आकाश में वर्तमान समस्त पिण्ड घूमते हैं बिना घूमे कोई भी नहीं ठहर सकता अतः सूर्य भी अपनी कक्षा में घूमता है उसे घुमाने वाला परिधिमण्डल रूप वरुण ही है।

वरुण ने सूर्यमण्डल और नक्षत्रमण्डल को अलग अलग गति-मार्गों पर प्रेरित किया है--

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ॥

(ऋ० ७।८५।१)

अर्थ—(अस्य जनूंषि महिना तु धीराः) इस परिधिमण्डल वरुण के जन्म अर्थात् प्रकटीभाव महत्व के साथ दृढ हैं (यः-रोदसी चिदुर्वी वितस्तम्भ) जिस वरुण ने विस्तृत द्यावापृथिवी को सम्भाला हुआ है (ऋष्वं नाकं बृहन्तं नक्षत्रं च द्विता प्रनुनुदे भूम पप्रथत्) जिसने महान् सूर्यमण्डल † और नक्षत्रमण्डल को दो प्रकार से प्रेरित किया—गतिमान् बनाया एवं बहुत फैलाया।

परिधिमण्डल ग्रहों को गति देता है या स्थानान्तरित करता है यह सूर्यसिद्धान्त में भी कहा है—

परिणाहवशाच्छिन्ना तद्वशाद् भानि भुञ्जते ।

(सूर्यसि० २।५६)

अर्थात् समस्त ग्रह अपने परिधिमण्डल के वश हो गति करते हैं।

---

† "ऋष्वं महन्नाम" (निघ० ३।३)
नाक आदित्यो भवति (निरु० २।१४)

वरुण सूर्य आदि लोकों को वातसूत्रों (वात धाराओं) से गति देता है—

आत्मा ते वात रज आनवोनीत् ।

(ऋ० ७ । ८७ । २)

हे परिधिमण्डलरूप वरुण! तेरा आत्मा वायु है जो कि सूर्य आदि लोक को "इमे वै लोका रजांसि" (श० ६।३।१।१८) पुनः पुनः प्रेरित करता है। गति देता है।

आकाश के नक्षत्रों को वातसूत्रों (वायु धाराओं) ने फैलाया हुआ है।

आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन् रोचनान् दिवः ।
मरुतः सोमपीतये ॥

(ऋ० ८ । ६४ । ६)

मरुतों अर्थात् वायुधाराओं-वायुसूत्रों के समस्त पार्थिव पिण्डों और आकाश के रोचनों नक्षत्र आदि ज्योतिष्पिण्डों को फैलाया है-स्थानान्तरित किया हुआ है† ।

धूमकेतु आकाश में वायु से प्रेरित हुए अपने मार्ग में गति करते हैं।

हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि ।
यतन्ते वृथगग्नयः ॥

(ऋ० १ । ३७ । ८)

† "नक्षत्राणि वै रोचनानि दिवि" (तै० ३।६।४।२)

अर्थ—(द्यवि-अग्नयः-हरयः-धूमकेतवः) आकाश में अग्नि के सदृश जाज्वल्यमान हरणशील धूमकेतु तारे (वातजूताः-पृथक्-उपयतन्ते) वायु से प्रेरित हुए पृथक् पृथक् मार्ग में गति करते हैं† ।

वायुधाराओं की प्रेरणाओं में पृथिवी गति कहती है

येषामज्मेषु पृथिवी जुजुर्वां इव विश्पतिः ।
भिया यामेषु रेजते ॥

(ऋ० १ । ३७ । ८)

'मरुतों अर्थात् वायुओं के अज्मों प्रक्षेपणों प्रेरणप्रवाहों में वर्तमान हुई‡ पृथिवी अपने यामों अर्थात्-प्रहरों में पुत्रपौत्रवान्-वृद्ध गृहस्थ की भांति गति करती है—भ्रमण करती है ।

उपर्युक्त वेदवचनों में जैसे वायुप्रवाह नक्षत्रों, सूर्य आदि ज्योतिष्पिण्डों, धूमकेतुओं और पृथिवी गोल को आकाश में गति देता है । ज्योतिष्-ग्रन्थों में भी ऐसा ही कहा है—

भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः ।
भ्रमत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम् ॥

(सूर्यसि० १२ । ७४)

उत्तर दिशा के दोनों ध्रुवों में प्रवहनामक वायुसूत्रों से बंधा हुआ तथा फेंका हुआ नक्षत्रचक्र और उससे सम्बद्ध शनि आदि ग्रहमण्डल निरन्तर घूमता भ्रमण करता रहता है ।

† "महते गतिकर्मा" (निघं २ । १४)

‡ "अज गतिक्षेपणयोः" (आदि०)

तथा—

तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तैः सव्येतरपाणिभिः ।
प्राक् पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्नं स्वदिङ्मुखम् ॥
प्रवहाख्यो मरुत्तांस्तु स्वोच्चाभिमुखमीरयेत् ।

(सूर्यसि० २ । २ । ३)

यहां भी 'वातरश्मियों से बन्धे हुए और प्रवहाख्य मरुत् से प्रेरित होने की चर्चा स्पष्ट है । अस्तु ।

परिधिमण्डलरूप वरुण के अधीन अथवा उससे प्रकटीभाव को काल प्राप्त होता है यह अगले प्रकरण में देखें ।

काल

परिधिमण्डलरूप वरुण निज भ्रमण से और ग्रहों को भ्रमण कराकर काल को उत्पन्न करता है, परिधिमण्डल रूप वरुण-स्वयं घूमता है तो स्थूल काल को उत्पन्न करता है। सूक्ष्म काल-तो सहस्रों वर्षों और युगान्तर के पीछे लक्षित होता है, स्थूल काल प्रतिदिन प्रतिक्षण जाना जाता है जोकि वर्ष मास आदि के रूप में व्यक्त होता है। वेद में कहा भी है "वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेद य उपजायते" (ऋ० १।२५।८) यह मन्त्र वरुण-सूक्त का है, इसमें कहा है परिधिमण्डलरूप वरुण विश्वजनन-शक्ति वाले बारह मासों को प्राप्त किये हुए है और जो 'उपजायते'

ऊपर हो जाता है उस काल को भी प्राप्त किये हुए है। चान्द्र-मासों की १२ संख्या पूरी हो जाने पर फिर जो सौर वर्ष से मेल करने के लिए काल बढ़ता है उस अधिमास को तथा सौर वर्षों की संख्या पूरी हो जाने पर फिर जो अयनयुग या सम्पातयुग रूप उत्पन्न हो जाता है, उस काल को भी प्राप्त किये हुए है। इसी प्रकार कल्पयुग काल तक को वरुण प्राप्त किये हुए है। अतएव समस्त ब्रह्माण्ड गोल काल के अन्दर गतिमान् हो रहा है, कहा भी है—

पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन्॥
(अथर्व० १६। ५३। ३)

यहां कहा है कि 'घटरूप पूर्ण ब्रह्माण्ड काल के अन्दर रखा है उस काल को हम बहुत भेदों में देखते हैं वह काल इन सब सूर्य आदि लोकों आकाश के पिण्डों को प्राप्त किये हुए है।'

उक्त मन्त्र में विश्वकाल का वर्णन है और उसका बहुविध विभागों में विभक्त होने का निर्देश है।

काल के विभाग—

संवत्सरोसि परिवत्सरोसि दावत्सरोसीद्वत्सरोसि वत्सरोसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्ता मर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते

कल्पन्ताꣳ संवत्सरस्ते कल्पतात्। प्रेत्या एत्यै संचाञ्च प्र च सारय सुपर्णचिदसि।

(यजु० २७।४५)

इस मन्त्र का देवता अग्नि है और वह कालाग्नि या कालमय अग्नि अथवा कालप्रेरक अग्नि है। उसे 'संवत्सरोसि परिवत्सरोसीदावत्सरोसीद्वत्सरोसि वत्सरोसि' अर्थात तू संवत्सर है सायन वर्ष है, परिवत्सर है–सौर वर्ष है, इदावत्सर है–चान्द्र वर्ष है, इद्वत्सर है–दिव्य वर्ष है, वत्सर है–नाक्षत्र वर्ष है' ऐसा कहा है। इसमें प्रमाण निम्न देखें—

अग्निर्वाव संवत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः। चन्द्रमा इदावत्सरः। वायुरनुवत्सरः† ।

(तै० ब्रा० १।४।१०।१, तां० १७।१३।१७)

संवत्सरोऽग्निः परिवत्सरोऽर्क इदादिकः शीतमयूखमाली।
प्रजापतिश्चाप्यनुवत्सरः† स्यादिद्वत्सरः शैलसुतापतिः॥

(वाराही संहिता ८।२४)

अग्नि पृथिवी का देवता है अतः पृथिवीगोल की गति से अर्थात् एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के दिनमान से सम्पन्न वर्ष सायन वर्ष संवत्सर अभीष्ट है। आदित्य अर्थात सूर्य के क्रान्ति वृत्त का पूर्ण चक्र होने से सौर वर्ष परिवत्सर है।

† यहां 'वत्सर' के स्थान पर 'अनुवत्सर' शब्द दिया है क्योंकि 'वाराही संहिता' में 'इद्वत्सर' अलग पढ़ा है।

चन्द्रमा की तिथियों से बना चान्द्र वर्ष इदावत्सर है। 'इद्वत्सर का देवता' वराही संहिता' में शैल सुतापति नाम महादेव या महेन्द्र का पौराणिक शैली में दिया है वह दिव्य वर्ष का सूचक है' दिव्य वर्ष इद्वत्सर है। 'वत्सर के स्थान में अनुवत्सर दिया है उसका देवता वायु होने से नाक्षत्र वर्ष अनुवत्सर है नक्षत्र-मण्डल वायु से प्रेरित हुआ गति करता है नाक्षत्र वर्ष वत्सर है। इन पांचों संवत्सरों या वर्षों का विवरण "सूर्य सिद्धान्त" में दिया है—

नाडीषष्ठ्या तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्तितम्।
तत्त्रिंशता भवेन्मासः सावनोर्कोदयैस्तथा॥
ऐन्दवस्तिथिभिस्तद्वत्संक्रान्त्या सौर उच्यते।
मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदह उच्यते॥
(सूर्यसि० मध्यमाधिकार १२। १३)

अर्थात् ६० घडियों का नाक्षत्र दिन रात, ऐसे ३० दिनरातों का एक नाक्षत्र मास। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक एक सावन दिन, ऐसे ३० सावन दिनों से एक सावन मास। प्रतिपदा आदि एक एक चन्द्रदिन; ऐसी ३० तिथियों का एक चान्द्र मास। एक क्रान्ति से दूसरी क्रान्ति तक एक सौर मास। प्रत्येक के १२ मासों का वर्ष और सौर वर्ष का दिव्य दिन ऐसे ३० दिनों (सौर वर्षों) का एक दिव्य मास एवं १२ दिव्य मासों का एक दिव्य वर्ष हुआ।

उपर्युक्त नाक्षत्र वर्ष, सायन वर्ष, चान्द्र वर्ष, सौर वर्ष, दिव्य

वर्ष ये पांच वर्ष ही यजुर्वेद में कहे 'संवत्सर' आदि पांच संवत्सर हैं। पुनः उस कालाग्नि के वर्ष से छोटे छोटे विभागों का 'उषसस्ते कल्पन्ताम्' आदि से वर्णन किया है; 'उषसः' तेरे दिन के लघु अवयव प्रकाशतरङ्गे; क्षण पल आदि पुष्ट हों, अहोरात्र पुष्ट हों, अर्ध मास (पक्ष) पुष्ट हों, मास पुष्ट हों, संवत्सर-वर्ष पुष्ट हों 'प्रेत्यै एत्यै समञ्च च प्रसारय च' हे कालाग्नि तू स्व-प्रस्थानक्रिया अर्थात् जगत् प्रलय के लिये संकुचित हो और अपनी आगमनक्रिया अर्थात जगद्रचना क्रिया के लिये फैल 'सुपर्णचित्-असि' संवत्सर अर्थात् वर्ष का चयन-संचय-निर्माण करने वाली है †।

उत्तरायण दक्षिणायन शब्दों के द्वारा तो वेद में काल विभाग का वर्णन नहीं है तथापि इन जैसे दो विभागों के सूचक स्थल अवश्य मिलते हैं, ध्रुव'प्रकरण में ही "अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम्' यदुदश्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन।"(ऋ० १०, ८६। १९। २२) दास और आर्य का असुरों और देवों एवं दक्षिण गोलार्ध उत्तर गोलार्ध का विभाग करते हुए विषुवद् वृत्त पर सूर्य के

---

† अथ ह वा एष महासुपर्ण एव संवत्सरः, तस्य यान् पुरस्ताद् विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्षो अथ यान् पश्चाद्विषुवतः सोऽन्यतर आत्मा विषुवान्" (श० १२। २। ३। ७) अर्थात् संवत्सर वर्ष सुपर्ण है उसका एक पक्ष-पंख है विषुवद् वृत्त से पूर्व छः मास और दूसरा पक्ष पंख अगले छः मास और विषुवद् वृत्त आत्मा मध्य शरीर है।

आने तथा 'उदञ्चः' से उत्तरगोलार्ध में उसके आने का वर्णन आर्य क्षेत्र-देव क्षेत्र-उत्तर गोलार्ध तथा दास क्षेत्र दक्षिण गोलार्ध का सूचक है। तथा अथर्व वेद में यह भी कहा है—

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं
नो ब्रूत यतमोतिरिक्तः ॥

(अथर्व० ८।९।१७)

'छः मास ठण्डे कहते हैं और छः मास गरम, फिर ऋतु हमें बतलाओ जो कि इन से अतिरिक्त है।' इस मन्त्र का आशय १२ मासों के ठण्डे गरम दो विभागों में सब ऋतुओं का समावेश होजाता है कोई ऋतु नहीं बचती। यह भी उत्तर-गोलार्ध और दक्षिण गोलार्ध में वर्तमान सूर्य की दो स्थितियों का निर्देश करता है। इस प्रकार संवत्सर के दो विभाग हुए जिन में छः मास ठण्डे और छः मास गरम हैं इन्हें उत्तरायण दक्षिणायन नहीं कह सकते किन्तु संवत्सर के शीतमास और उष्णमास के नाम से कह सकते हैं ऐसा वेद का अभिप्रेत है†।

---

†ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उत्तरायण दक्षिणायन शब्द नहीं हैं, उपनिषदों में केवल प्रश्नोपनिषद् में आये हैं मैत्र्युपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् में उत्तरायण और उदगयन शब्द मिलते हैं किन्तु दक्षिणायन कहीं नहीं, उत्तरायण और उदगयन के स्थल—

यदुत्तरायणं गतः। (मैत्र्युप० ६। ३०)

उदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे (बृहदा० ६।३।१)

संवत्सर की छः ऋतुएं—

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥

अथर्व० १२ । १ । ३६‡)

अर्थ—(भूमे ते ग्रीष्मः-वर्षाणि शरत्-हेमन्तः-शिशिरः-वसन्तः) भूमि ! तेरी ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त (हायनीः-ऋतवः-ते विहिताः) वर्ष की ऋतुएं निर्धारित की गई हैं (पृथिवि नः—अहोरात्रे दुहाताम्) हे पृथिवी ! हमारे लिये दिन रात तुझे प्रपूर्ण करें ॥

यहां वर्ष की ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त ये छः ऋतुएं होती हैं यह मन्त्र में कहा है । यहां दो बातें महत्वपूर्ण कही गई हैं प्रथम यह कि उक्त ग्रीष्म आदि छः ऋतुएं पृथिवी की 'हायनीः—वार्षिक गति के कारण उत्पन्न होती हैं ऋतुओं का पृथिवी के साथ सम्बन्ध है इस विषय में विशेष हम आगे पृथिवी-प्रकरण में कहेंगे, यहां तो ऋतुएं वर्ष के कालविभाग हैं यही दर्शाना अभीष्ट है । दूसरी बात मन्त्र में कही गई है पृथिवी को दिन और रात प्रपूर्ण करते हैं दिन रात भी पृथिवी की गति से उत्पन्न होते हैं यह इसका तात्पर्य है जो कि इसकी

‡ ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद्वर्षाः स्विते नो दधात ।
(अथर्व० ६ । ५५ । २)

हायनी-वार्षिक गति से भिन्न है इस पर विशेष 'पृथिवी गोल' के प्रकरण में कहेंगे।

इन छः ऋतुओं के दो दो मास होते हैं और वे यौगिक नामों से कहे गये हैं—

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू० (यजु० १३।२५)
शुक्रश्च शोचिश्च ग्रैष्मावृतू० (यजु० १४।६)
नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू० (यजु० १४।१५)
इषश्चोर्जश्च शारदावृतू० (यजु० १४।१६)
सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू० (यजु० १४।२७)
तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू० (यजु० १५।५७)

वसन्त ऋतु के मधु और माधव, ग्रीष्म के शुक्र और शोचि, वर्षा के नभः और नभस्य, शरद् के इष और ऊर्ज, हेमन्त के सह और सहस्य, शिशिर के तपः और तपस्य मास हैं। वसन्त आदि ऋतुओं के ये मधु और माधव आदि दो दो मास यौगिक हैं। जब वसन्त ऋतु प्रवर्तमान होगी उसके दो मास मधु और माधव कहलायेंगे, चाहे वे नक्षत्र सम्बन्धी चैत्र वैशाख हों या वैशाख ज्यैष्ठ अथवा ज्यैष्ठ आषाढ़ हों या अन्य कोई भी दो मास हों, मधु और माधव ही कहलाएंगे यौगिक होने से। शतपथ ब्राह्मण में कहा भी है "मधुश्च माधवश्च एव वासन्तिकौ मासौ स यद् वसन्त ओषधयो जायन्ते वनस्पतयः पच्यन्ते तेनो हैतौ मधुश्च माधवश्च' (श० ४।३।१।१४) अर्थात् मधु और माधव वसन्त

के दो मास हैं क्योंकि वसन्त ऋतु में ओषधियां उत्पन्न होती हैं और वनस्पतियां पकती हैं। इसी प्रकार शुक्र शोचि आदि मासों को भी समझें। विशेष परिचयार्थ शतपथ ब्राह्मण के (४।३।१।१४—१६) स्थल देखें।

वर्ष के १२ मासों और अधिमास का वर्णन—

वेद मासो धृतव्रत द्वादश प्रजावतः।
वेद स उपजायते ॥ (ऋ० १।२५।८)

इस मन्त्र का अर्थ इसी प्रकरण के प्रारम्भ में कर आए हैं। यहां केवल इतना ही बतलाना अभीष्ट है कि १२ मासों से ऊपर का समय भी होता है जिसे अधिमास कहते हैं। ऋतुओं की दृष्टि से चान्द्रमासों में कुछ दिनों की कमी पड़ती है तीन वर्ष में एक मास जितना अन्तर पड़ जाता है अतः चौथे वर्ष में एक मास बढ़ा दिया जाता है। इस प्रकार इस बढ़ाए हुए मास को अंहसस्पति, संसर्प और मलिम्लुच नामों से कहा जाता है—

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहेषाय स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहा ऽहंसस्पतये † स्वाहा ॥

(यजु० २२।३१)

---

† उपयामगृहीतोसि मधवे त्वा······अंहसस्पतये त्वा ॥
(यजु० ७।३०)

जिस दोहराए हुए मास में सूर्य की दो संक्रान्ति पड़ें वह अहंसस्पति कहलाता है‡। असंक्रान्ति वाला प्रथम मास तो संसर्प और दूसरा हो तो मलिम्लुच कहाता है*।

असवे स्वाहा वसवे स्वाहा विभवे स्वाहा विवस्वते स्वाहा गणश्रिये स्वाहा गणपतये स्वाहा भिभुवे स्वाहा धिपतये स्वाहा शूषाय स्वाहा सथ्ंसर्पाय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा ज्योतिषे स्वाहा मलिम्लुचाय स्वाहा दिवापतये स्वाहा ॥

(यजु० २२ । ३१)

यहां 'असु' आदि १२ चान्द्र मासों के वैदिक नाम हैं, मलिम्लुच और संसर्प पहिले और दूसरे वर्ष के अधिमासावयवों के नाम हैं।

अर्धमास विभाग—

क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तंब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

(अथर्व० १० । ७ । ५)

---

‡ असंक्रान्ती द्विसंक्रान्ति संसर्पाहंसस्पती (नारदसंहिता)
असंक्रान्तावेकवर्षे द्वौ चेत्संसर्प आदिमः।
त्वमासो द्विसंक्रान्तिः स चाहंसस्पतिसंज्ञकः।

* रविणा लङ्घितो मासश्चान्द्रः ख्यातो मलिम्लुचः। (व्यासः)
(तै० १ । ४ । १४ । सायणः)

कहां अर्धमास कहां मास संवत्सर के साथ चले जाते हैं जहां कि ऋतुएं और ऋतुभाग मधु माधव आदि चले जाते हैं इस आधार को बतला वह कौन सा है।' यहां मास के भी विभाग अर्धमास अर्थात् दो पक्षों का वर्णन है।

मास का मान ३० दिन रात—

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदंगं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते॥

(अथर्व० १३।३।८)

'दिन रातों से नपे हुए तीस अङ्ग वाले तेरहवें मास को जो सूर्य निर्माण करता है।'

दिन का स्वरूप—

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्।
परो यदिध्यते दिवा॥

(ऋ० ८।६।३०)

अर्थ—(दिवा यत् परः इध्यते) द्यु लोक के साथ जो अत्यंत दीप्त हो रहा है। उस (प्रत्नस्य रेतसः) पुरातन-शाश्वत तेजस्वी सूर्य की (आत्-इत्-ज्योतिः-वासरं पश्यन्ति) उदयानन्तर ही ज्योति को मनुष्य वासर अर्थात् दिन देखते हैं†।

मन्त्र में कहा है कि उदयानन्तर सूर्य की ज्योति का दिखलाई पड़ते रहना ही दिन है, इससे विपरीत रात जानना चाहिये।

† "वासरम् अहर्नाम" (निघं १।६)

दिन की उत्पत्ति—

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।

(ऋ० १।९२।१)

अर्थात् 'ये उषाएं (उष्ण किरणें) जब लालिमा को फेंकती हैं तो फिर 'रजसः पूर्वे अर्धे' पृथिवी आदि लोक के† पूर्व वाले सामने के आधे भाग पर 'भानुम्-अञ्जते' दिन को प्रकट करती हैं‡।

उक्त मन्त्र में कहा गया है कि सूर्य के सम्मुख किसी भी पिण्ड के रहने से चमक उठने से दिन प्रकट होता है।

दिन वृद्धि—

सोम राजन् प्रण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि।

(ऋ० ८।४८।७)

'हे सोम राजन्! तू हमारी आयुओं को ऐसे बढ़ा जैसे सूर्य दिनों को बढ़ाता है।

दिन रात के तीस मुहूर्त—

त्रिंशद्धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय धीयते।
प्रति वस्तोरह द्युभिः॥

(ऋ० १०।१८९।३)

---

† "इमे वै लोका रजांसि" (श० ६।३।१।१८)

‡ "भानुः-अहर्नाम" (निघं० १।९)

अर्थ—(वाक्-वस्तोः–त्रिंशद् धाम विराजति) पृथिवी‡ दिन के† दिन रात के ३० मुहूर्तों को प्राप्त करती है (द्युभिः पतङ्गाय प्रतिधीयते अह) वह पृथिवी किरणों द्वारा सूर्य में※ सदा आश्रित रहती है§ ।

यहां यह कहा गया है कि 'पृथिवी सूर्य पर आश्रित हो एक दिन रात में अपनी गति से ३० मुहूर्त बनाती है । इससे दिन रात के ३० मुहूर्त होते हैं यह आया । अस्तु ।

आदि संवत्सर विश्व काल से लेकर दिन के छोटे छोटे विभागों तक का वेदोक्त वर्णन इस प्रकरण में दिखलाया गया है । अब आगे 'नक्षत्र, राशि और ऋषि' पर लिखा जावेगा ।

---

‡ "इयं पृथिवी वै वाक्" (श । ४ । ६ । ६ । १६), "वागिति पृथिवी" (जै० ३ । ४ । २२ । २१)

† "वस्तोः अहर्नाम" (निघं० १ । ६)

※ "द्वितीयार्थे चतुर्थी"

§ "त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्ग आशिश्रियत" (अथर्व० ६ । ३ । ३)

नक्षत्र राशि और ऋषि

नक्षत्र उन ताराओं को कहते हैं जो व्योमकक्षा में परस्पर यथावत् अन्तर में सदा वर्तमान से दृष्टिगोचर होते हैं तथा जोकि व्योमकक्षारूप परिणाह अर्थात् पटह्रा के साथ चलते हैं। ऐसे नक्षत्र वेद में अठाईस कहे हैं—

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु। अष्टाविंशानि० ॥

(अथर्व० १६।८।१-२)

'जो नक्षत्र द्युलोक में अन्तरिक्ष में नद समुद्रों में भूस्थलों

में पर्वत स्थानों में दिशाओं में सर्वत्र दृश्यमान होते हैं अर्थात कहीं भी जावें सर्वत्र दिखलाई पड़ते हैं ऐसे वे नक्षत्र २८ हैं।

उन अठाईस नक्षत्रों का स्वरूप—

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।

(अथर्व० १९।७।१)

'द्युलोक में वे चमकने वाले चित्र विचित्र एवं भांति भांति के नक्षत्र† परिधिमण्डल में एक साथ सर्पणशील हैं, परस्पर आकर्षण बल से युक्त रहते हैं।

नक्षत्र परिधिमण्डल रूप पटह्ा में जड़े हुए से परस्पर आकर्षण बल से यथास्थान में वर्तमान हुए निरन्तर सर्पण गति करते रहते हैं परिधिमण्डल की गति ही उनको गतिमान् करती है। अब उनके नाम देखिये।

अठाईस नक्षत्रों के नाम—

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सुनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे॥
पुण्यं पूर्वाफल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा
शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम्॥
अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।

---

† "नक्षत्राणि वै रोचना दिवि" (तै० ३।६।४।२)

अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः

श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥

आ मे महच्छतभिषग् वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म ।

आरेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु ॥

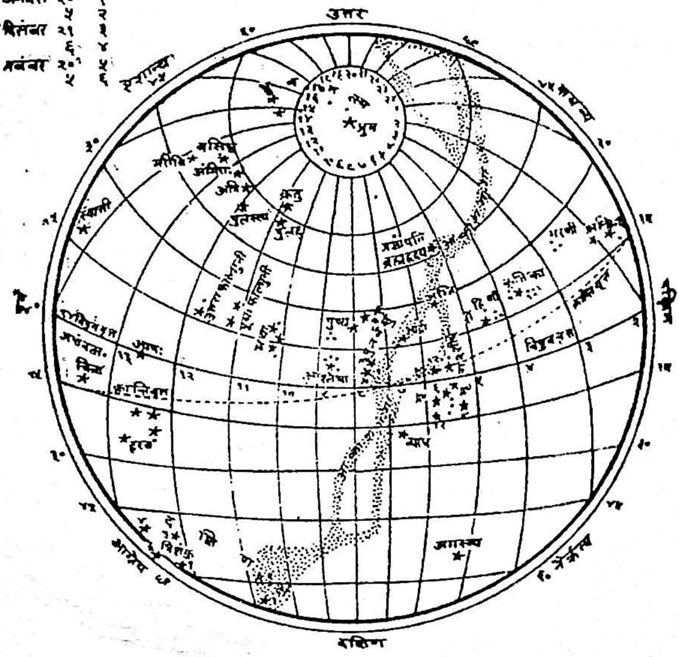
(अथर्व० १६ । ७ । २-५)

कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरः, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा फल्गुनी, उत्तरा फल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, राधा या विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वा अषाढा, उत्तरा अषाढा, अभिजित्, श्रवण, श्रविष्ठा (धनिष्ठा), शतभिषक्, दोनों प्रोष्ठपदा (पूर्वा भाद्रपदा, उत्तरा भाद्रपदा), रेवती, दो अश्वयुक्-अश्विनौ, भरणी, (देखो नक्षत्र चक्र चित्र संख्या ६, ७, ८)

नक्षत्रपट की नये समय के अनुसार रात्रि की स्थिति

मास	तारीख	समय (बजे)
अप्रैल	६	८
मार्च	२२	९
	७	१०
फरवरी	२०	११
	४	१२
जनवरी	२०	१
	५	२
दिसंबर	२१	३
	६	४
नवंबर	२०	५
	५	६

प्रथम नक्षत्रपट

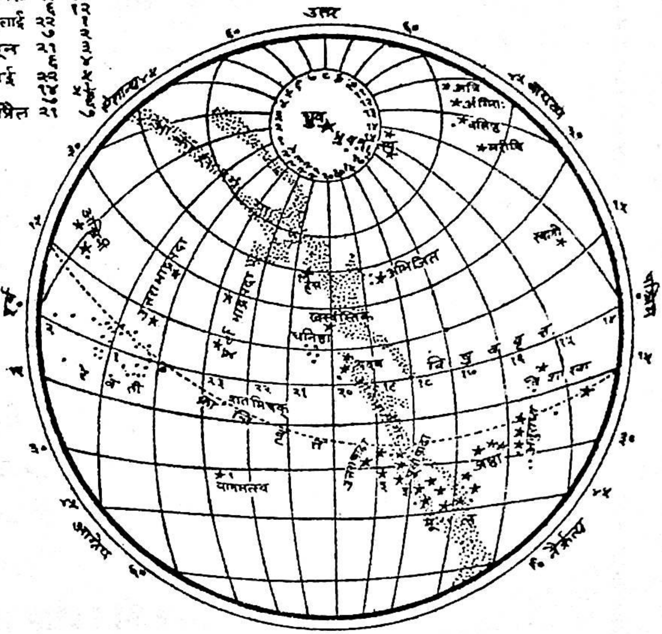


चित्र संख्या ६

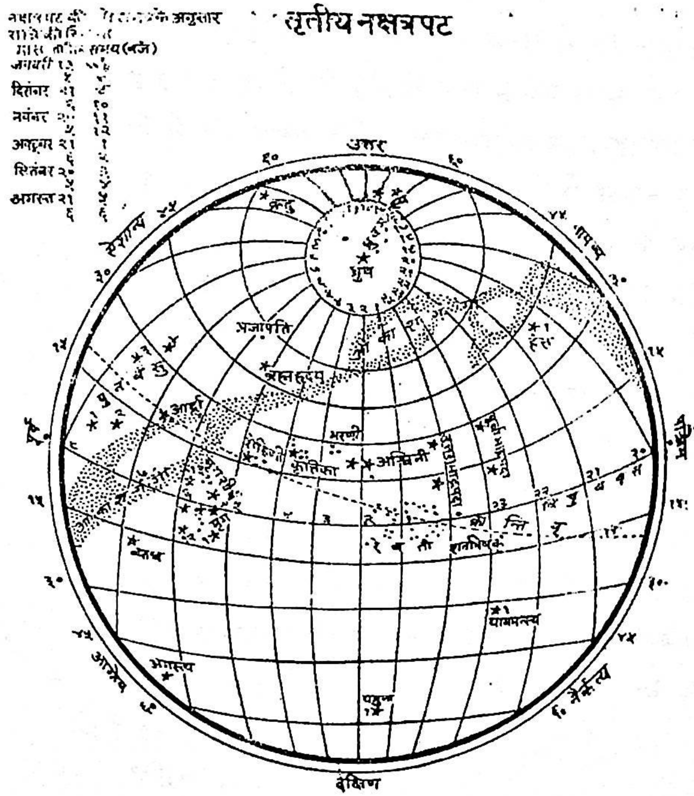
द्वितीय नक्षत्रपट

नक्षत्रपट किन किन समयों के अनुसार रात्रि की स्थिति

मास	तारीख	समय (बजे)
अक्तूबर	६	८
सितंबर	२०	९
	५	१०
अगस्त	२१	११
	६	१२
जुलाई	२२	१
	७	२
जून	२१	३
	६	४
मई	२२	५
	१४	५
अप्रैल	२१	६



चित्र संख्या ७


तृतीय नक्षत्रपट
दिसंबर
नवंबर
अक्तूबर
सितंबर
अगस्त
उत्तर
दक्षिण
ईशान्य
आग्नेय
नैर्ऋत्य
ध्रुव
प्रजापति
ब्रह्महृदय
आर्द्रा
भरणी
रोहिणी
कृत्तिका
अश्विनी
शतभिषक्
अगस्त्य

चित्र संख्या ८

नक्षत्रों का रात्रि में दीखना तथा उनका वरुण परिधिमण्डल के अधीन रहना—

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा
नक्तं ददृश्रे कुहचिद् दिवेयुः ।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चंद्रमा नक्तमेति ॥
(ऋ० १ । २४ । १०)

अर्थ—(अमी य-ऋक्षाः-उच्चाः-निहितासः) ये जो नक्षत्र ऊँचे रखे हुए हैं† (नक्तं ददृश्रे कुहचित्-दिवेयुः) रात में दीखते हैं दिन में कहां चले जाते हैं । (वरुणस्य व्रतानि-अदब्धानि) परिधिमण्डल के नियम अकाट्य हैं (चन्द्रमा विचाकशत्-नक्तम्-एति) चन्द्रमा भी चमकता हुआ रात में आता है ।

समस्त नक्षत्र ग्रह ताराओं को वरुण अर्थात् परिधि मण्डल ने गतिमान् किया हुआ है । परन्तु नक्षत्रों को वातसूत्रों ने फैलाया है—

आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन् रोचना दिवः ।
मरुतः सोमपीतये ॥
(ऋ० ८ । ६४ । ६)

मरुतों अर्थात् वायुधाराओं-वातसूत्रों ने समस्त पार्थिव पिण्डों और आकाश के रोचनों अर्थात् नक्षत्र आदि ज्योतिष् पिण्डों को फैलाया-स्थानान्तरित किया हुआ है ।

†"ऋक्षाः स्तृभिरिति नक्षत्राणाम्" (निरुक्त ३ । २६)

उक्त नक्षत्र सम्बन्धी समस्त मन्त्रों से यह स्पष्ट हुआ कि नक्षत्र वे २८ तारे हैं जो पृथिवी गोल के जल स्थल आदि सभी प्रदेशों से दृष्टि गोचर होते हैं एक परिधिमण्डल या घेरे में पटह्रा में एक साथ जड़े हुए से हैं उनका एक दूसरे से अन्तर पूर्व जैसा दिखलाई पड़ता हैं मानों ये परस्पर स्थानान्तरित नहीं होते अत एव इनके आधार पर ग्रहों की गति का ज्ञान होता है। इन नक्षत्रों के क्षेत्र से ही ग्रहों की गति को मापा जाता है। वह नक्षत्र परिधि मण्डल नक्षत्र परिणाह-नक्षत्रपटह्रा प्रति दिन लगभग ४ मिनट के भेद से गति करता हुआ दृष्टि पथ में आता है। किसी नक्षत्र कोजिस समय जिस स्थान में पूर्व दिन देखा था वह नक्षत्र अगले दिन लगभग चार मिनट पूर्व उस लक्षित वृक्ष शिखर गृहकोण पताका आदि स्थान पर दिखलाई पड़ता है। नक्षत्रों की पहिचान नक्षत्रों की आकृति के ज्ञान के लिये "ज्योतिर्विदा-भरण" को देखें तथा नक्षत्रो का परिचायक चित्र हम भी यहां देते हैं।

राशि—

कुछ विद्वानों का कथन है कि वेद में राशि का वर्णन नहीं है परन्तु ऐसा नहीं, वेद में राशि का भी वर्णन है, देखिये—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः

(ऋ० १। १६४। ४८, अथर्व० १०। ८। ४)

अर्थ—(एकं चक्रम्) एक चक्र है (तस्मिन्) उस में (त्रीणि

नभ्यानि) तीन नभ्य अर्थात् केन्द्र हैं (द्वादश प्रधयः) बारह प्रधियां–राशियां हैं (त्रिशता षष्टिः शङ्कवः न चलाचलासः न साकम्-अर्पिताः) तीनसौ साठ शंकु जैसे चलते हुए से अंश परस्पर अर्पित हैं (तत् कः–उ चिकेत) उसे कोई जानता है अर्थात् जनसाधारण नहीं किन्तु ज्योतिर्विद्यावित् ही जानता है ॥

यहां मन्त्र में कहा है कि एक चक्र है जिसमें 'द्वादश प्रधयः' बारह प्रधियां कहीं हैं ये चक्र के बारह प्रधान भाग हैं राशियां । 'सूर्यसिद्धान्त' में कहा भी है "तत्त्रिंशता भवेद् राशि र्भंगणो द्वादशैव ते" (सूर्यसि० १ । २८) चक्र में ३६० अंश होते हैं ३० अंश की राशि और एक चक्र में बारह राशियां होती हैं। कदाचित् कोई यह कहे कि "ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त में 'द्वादश प्रधयः' का अर्थ कालचक्र (संवत्सर चक्र) के बारह मास दिये हैं, 'त्रीणि नभ्यानि' का तीन ऋतुएं और 'त्रिशताः षष्टिः शङ्कवः' का तीन सौ साठ अहोरात्र (दिन रात) दिये हैं।" हमारा इसके सम्बन्ध में यह कहना है कि निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों में दिया अर्थ एकदेशी या आंशिक है कारणकि 'द्वादश प्रधयः' आदि सामान्य शब्द हैं जो कि कालचक्र (संवत्सरचक्र) में तथा कक्षाचक्र में दोनों जगह तुल्य और सापेक्ष हैं, देखिये "ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त" में कहा है—

घटिका त्रिनाडिकाषष्ट्या ।
घटिकाषष्ट्या दिवसो—
दिवसानां त्रिशता भवेन्मासः ॥

मासा द्वादश वर्षे
विकला लिप्तांश राशि भगणान्तः
क्षेत्र विभाग स्तुल्यः कालेन विनाडिकाद्येन ॥
(ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त मध्यमा० ।'५-६)

अर्थात्—'६० विनाडिका की १ घटिका ६० घटिका का १ दिन (दिन रात), ३० दिनों का १ मास, १२ मासों का १ वर्ष । इसी प्रकार विकला, लिप्ता (कला), अंश, राशि, भगण (कक्षाचक्र) तक का क्षेत्र विभाग विनाडिका आदि काल से तुल्य है । तुलना का विवरण निम्न प्रकार जानें—

कालचक्र—	वर्ष	मास	दिन	घटिका	विनाडिका
कक्षाचक्र—	भगण	राशि	अंश	कला	विकला

६० विनाडिका की १ घटिका, ६० घटिका का १ दिन, ३० दिन का १ मास, १२ मास का १ वर्ष, (कालचक्र)

६० विकला की १ कला, ६० कला का १ अंश, ३० अंश की १ राशि, १२ राशि का १ भगण (कालचक्र)

मन्त्र में "द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं" कालचक्र या संवत्सरचक्र नाम नहीं दिया है किन्तु 'चक्रमेकं' चक्र नाम से कहा है सो कालचक्र और कक्षाचक्र दोनों लिये जा सकते हैं, अतः सामान्यार्थ चक्रअभीष्ट है, उस में केवल १२ प्रधियां, ३ नभ्य, ३६० शंकु होते हैं वह चाहे संवत्सरात्मक कालचक्र हो या कक्षाचक्र हो । कक्षा-चक्र से तात्पर्य नक्षत्रों, ग्रहों उपग्रहों, और पृथिवी के आकाश में परिभ्रमणचक्र का है । इन ग्रह आदि के कक्षाचक्रज्ञानार्थ

गणित के रेखाचक्र के भी ये ही विभाग जानने चाहियें। मन्त्र में 'नभ्य' शब्द कठिन और महत्वपूर्ण शब्द है, इसके कई अर्थ हो सकते हैं। प्रथम कक्षाचक्र के राशिरूप १२ विभागों से भी बड़े ३ विभाग, दूसरे ३ नभ्य अर्थात् ३ केन्द्र जोकि पृथिवीगोल आदि चक्र का अपने केन्द्र पर घूमना, सूर्य को केन्द्र बनाकर घूमना, ध्रुव को केन्द्र मानकर घूमना। इस प्रकार तीन गतियों के तीन केन्द्र बनना; 'त्रिशताः षष्टिः शङ्कवः' ३६० शंकु अर्थात् अंश (Degrees) एक वृत में होते हैं। किसी भी छोटे या बड़े वृत्त का ३६० वां भाग गोल नहीं अपितु सीधा अंश समझा जाता है यह बात मन्त्र के शंकु शब्द से अभिव्यक्त होती है। बस अब इस मन्त्र की (द्वादश प्रधयः' १२ राशियां किसी भी चक्र या कक्षाचक्र के १२ विभागों का नाम है जोकि नक्षत्रचक्र में १२ समान नक्षत्र समूहों के, संवत्सरात्मक कालचक्र में १२ मासों के, घड़ी के चक्र में १२ बजों के† द्योतक हैं। नक्षत्र २७ एवं अथर्व वेदानुसार २८ हैं इन में अभिजित् वेद का विशेष नक्षत्र है। इन नक्षत्रों के पूरे चक्र के प्रधान १२ भाग ही १२ राशियां समस्त कक्षाचक्रों में ग्रहगति ज्ञानार्थ काम में आने से मुख्य राशियां समझी जाती हैं। "सूर्य सिद्धान्त" में कहा है—

---

† घड़ी में अहोरात्र अर्थात् पृथिवी गोल के पूरे चक्र में १२ बजाने चाहिये न कि आधे चक्र में १२ बजा देना, जैसा कि आज कल बजा दिया जाता है यह गोल सिद्धान्त के विपरीत है।

पुनर्द्वादशधात्मानं व्यभजद् राशिसंज्ञकम् ।
नक्षत्ररूपिणं भूयः सप्तविंशात्मकं वशी ॥

(सूर्य सि० १२ । २६)

'१२ राशियों' का विभागरूप चक्र ही २७ नक्षत्रात्मक चक्र है ।' अस्तु । अब हम वेद में आए चक्र के अन्य विभागों का भी वर्णन करते हैं ।

प्रत्येक चक्र के नव्वे नव्वे अंश के चार समकोणात्मक विभाग ।

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतींरवीविपत् । बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्कभिर्युवा कुमारः प्रत्येत्याहवम् ॥

(ऋ० १ । १५५ । ६)

अर्थ–(युवा-अकुमारः-बृहच्छरीरः) युवा पौढ बड़े शरीर वाला सूर्य† (चतुर्भिः-नामभिः— च साकं नवति चक्रं न वृत्तं व्यतीन्-अवीविपत्) चार अभ्यासों‡ चार आवृत्तियों के साथ नव्वे अर्थात् ३६० अंश रूप वृत में चक्र की भांति व्यतीत विविध निरन्तर गतिशील ग्रहों को कम्पाता है चलाता है । वह सूर्य (ऋक्कभिः– विमिमानः आहवं प्रत्येति) किरणों से विशेष

---

† "असौ वा आदित्यो ब्रध्नः" (तै. ६ । ६ । ४ । १) "एक सूर्यः तपत्येष उएव बृहत्" (अ. ४ । ५ । ६ । ६)

‡ "म्ना आयासे" (भ्वादि०) से मनिन् प्रत्यय लगकर नाम शब्द बनाहै "नामन् मीमनः" (उणा. ४ । १५१)

मान करता हुआ—कालका निर्माण करता हुआ संसार संग्राम में आता है।

इस मन्त्र में कक्षावृत्त के समस्त ३६० अंशों में नव्वे नव्वे के चार समकोणात्मक भाग कहे हैं, इस कथन से ३६० अंशों वाला "द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं ···· त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टि" १२ राशियां हैं यह स्पष्ट होता है। अतः "द्वादश प्रधयश्चक्र-मेकं" से वेद में चक्र की १२ राशियों का होना सिद्ध है*। रही नामों की बात वेद में वे प्रचलित नाम भी हों यह कोई आवश्यक नहीं हैं कक्षावृत्त के १२ राशि विभागों की विद्यमानता तो वेद में है यह सिद्ध है। हाँ, यह हो सकता है कि वेद में प्रचलित राशि नामों के पर्याय या अन्य नाम हो सकते हैं पर यह वस्तु खोज और समयसाध्य है। परन्तु कोई आवश्यक नहीं है यदि नाम न भी हुए तो भी वेद के राशिविज्ञान में बाधा नहीं है। राशिचक्र और राशिविभाग का वर्णन तो मिलता है‡। अस्तु।

---

* श्री महावीरप्रसाद श्री वास्तव ने "सूर्य सिद्धान्त" की भूमिका में वर्जेस' का का मत दिया कि "राशिचक्र के १२ विभाग भी हिन्दुओं को शताब्दियों पहिले मालूम था जब कि और देशों में इसका कोई चिह्न भी न था।" (सूर्य सिद्धान्त विज्ञान भाष्य भूमिका)

‡ छान्दोग्योपनिषद् में राशि का वर्णन आता है जबकि सनत्कुमार के पास नारद पढ़ने के लिये गये उनसे पूछा कि तुम क्या क्या पढ़े हो तो नारद ने उत्तर में कहा कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्ववेद, इतिहास पुराण राशि विज्ञान ग्रह आदि पढ़ा हूँ "स हो वाचर्ग्वेदं

ऋषि—

जो तारे व्योमकक्षा अर्थात् नक्षत्र चक्र को छोड़कर अन्यत्र आकाश में वर्तमान हुए ध्रुव की परिक्रमा करते हुए स्वस्थान में यथा क्रम विद्यमान हैं वे ऋषि कहलाते हैं। ऋषितारों में प्रथम स्थान सप्तर्षियों का है जो ध्रुव के चारों ओर एक साथ एक शृङ्खला में परिक्रमा करते हैं जिन के ऊपर के दो ताराओं के ठीक सामने ध्रुवतारा उत्तर में है। वेद में कहा भी है—

स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत्।
तं श्यैतंच नौधसंच सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलन् ॥
(अथर्व.१५।३।२१-२२)

इस मन्त्र में सप्तर्षियों और उदीची दिशा-उत्तरदिशा का सम्बन्ध स्पष्ट है। प्रजापति संवत्सर का नाम है। वह उत्तर दिशा में पहुंचा उसके अनुकूल श्यैत-नौधस में ये ऋषि नाम के तारा-मण्डल और सप्तर्षि चलायमान हुए।

तथा—

विश्वकर्मा मा सप्तर्षिभिरुदीच्या दिशः पातु।
(अथर्व० १८।१७।७)

यहां भी सप्तर्षियों और उदीची दिशा-उत्तर दिशा का सम्बन्ध

भगवोध्येमि यजुर्वेदं साम वेद माथर्वणं चतुर्थ मितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं देवं० (छान्दो० ७।१।२)

स्पष्ट है। विश्वकर्मा अर्थात्-संवत्सर † और उत्तर दिशा से सप्तर्षि नामक तारों द्वारा रक्षा करने का वर्णन है।

सप्तर्षि नक्षत्र तारों को कहते हैं यह "अमी य ऋक्षा निहितास उच्चानक्तं ददृश्रेकुहचिद्दिवेयुः (ऋ० १। २४। १०) पर निरुक्तादि के विवरण देखें वहां लिखा है "ऋक्षाः स्तृभिरितिनक्षत्राणाम्" (निरु. ३। ४।२०) "सप्तर्षीनुह स्म वै पुरा ऋक्षा इत्याचक्षते" (श० २।१।२।४) अन्य ऋषितारे—

सप्तर्षीन्वा इदं ब्रूमो ऽपो देवीः प्रजापतिम्।

(अथर्व० ११। ६। ११)

यहां सप्तर्षि, आपः प्रजापति ये ऋषितारों के नाम हैं। सप्तर्षि तो सात ऋषितारों का समूह हैं इसके साथ 'आपः' और 'प्रजापति' भी ऋषितारे हैं। ‡

---

† "संवत्सरो विश्वकर्मा" [ऐ० ४। ८२]

‡ सूर्यसिद्धान्त में कहा है—

पूर्वस्यां ब्रह्महृदयादंश कैः पञ्चभिः स्थितः।
प्रजापति र्वृषान्ते ऽसौ सौम्येष्टत्रिंशदंशकैः॥
अपां वत्सस्तु चित्राया उत्तरे ंशैस्तु पञ्चभिः।
वृहत्किञ्चिदतो भागैरापः षड्भि स्तथोत्तरे॥

(सूर्यसि० ८। २०। २१)

प्रजापति का स्थान ब्रह्म हृदय से ५ अंश पूर्व की ओर वृष राशि के अन्त में उत्तर की ओर ३८ अंश पर है तथा 'आपः' का स्थान अपांवत्स से कुछ दूर ६ अंश उत्तर है।

इसी प्रकार ऋषितारे अगस्त्य लुब्धक आदि बहुत हैं जिन का विवरण और खोज कालापेक्षित है। इस कार्य में वर्षों खोज की आवश्यकता है।

आकाश गंगा

आकाश में रात्रि के समय विशेषतः चन्द्र विहीन रात्रि में धुन्धली श्वेत चमकदार लम्बायमान नदी जैसी प्रकाश धारा दिखलाई पड़ती है जिसे लोग आकाश गङ्गा के नाम से कहते हैं। यह कैसे उत्पन्न हुई इसकी स्थिति का कारण क्या है इस विषय में पाश्चात्य ज्योतिषियों को भी अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हुआ है, तथापि इतना कहा जाता है कि इस में धुन्धले से समूह सब तारा समूह या तारे हैं। वेद में इस आकाश गङ्गा को 'आपः' कहा है और इस का इतिवृत्त दिया है—

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः। या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् प्रजानाम्। या अग्निं ॥

यास्यां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ॥ या अग्निं ॥

(अथर्व १। ३३। १-३)

'अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी' में इस सूक्त के 'आपः' को विश्व का कारण रूप कहा है "हिरण्यवर्णाः—इति...सर्वेण सूक्तेन सर्वकारणमाप एवेति विज्ञाय ता अस्तौदिति" (अथर्ववेदीया बृ० सर्वा०) वेद में अन्यत्र कहा भी है "आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः (अथर्व ४। २६) प्रथम 'आपः' ने विश्व अर्थात खगोल के गर्भ को धारण किया है। मनु ने भी कहा है "अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्" (मनु १। ८) विश्व के कारण रूप 'आपः' हैं प्रकृति की विकृति रूप अवयव धारा जो आकाश में घूमती हुई शनैः शनैः स्थूल होती गई या अपने में से स्थूल अवयवों ग्रह-तारा-पिण्डों को बनाती और फैंकती गई। परन्तु अनन्त अवयव तारे उसके गोलीय परिभ्रमण की मध्यरेखा में ही वर्तमान रह निज गति से शून्य से हुए मध्य रेखा के भ्रमण के साथ ही भ्रमण करते हुए यथास्थान पर ही बने रहते हैं, यही ताराधारा धुन्धली श्वेतप्रकाश धारारूप 'आपः' लोक

में आकाश गङ्गा कही जाता है। उक्त सूक्त में कहा है कि ये 'आपः' सुनहेरी रंग वाले जाज्वल्यमान चमकदार शोभायमान हैं जिन में सूर्य, अग्नि, उत्पन्न हुए। द्युलोक के देव द्योतमान ग्रह उपग्रह मानो जिसका पान करने उसतक आते हैं और जिन के मध्य में परिधिमण्डलात्मक वरुण देव समस्त आकाशीय पिण्डों के सत्य यथार्थ निजगति और असत्य अनिज पराकृष्ट-गति को लक्ष्य करता हुआ विराजमान है। इस प्रकार इस धुन्धली रूप प्रकाशधारा आकाशगङ्गा के साथ नक्षत्रों का स्थान नियत एवं ग्रहों की गति का लक्ष्य होता है अतः इसे व्योमकक्षा भी कहा जा सकता है। ऋग्वेद के अनुसार इसे इन्द्राणी भी कह सकते हैं। इन्द्राणी इन्द्र(उत्तर ध्रुव)की परिक्रमा करती हुई दिखलाई पड़ती है। पृथिवी की अपने अक्ष पर आड़ी गति के कारण यह रात्रि में आड़ी दिशा बदलती हुई जान पड़ती है †। अतः आकाश गङ्गा को 'आपः'एवं 'इन्द्राणी' वैदिक परिभाषा में कह सकते हैं।

---

† इन्द्राणी के सम्बन्ध में देखो "ध्रुव प्रकरण"।

ग्रह मण्डल

वेद में ग्रहों का वर्णन ग्रह, रोचन, नक्षत्र और उल्का एवं देव नामों से आता है। ग्रहनाम से तो केवल इतना ही कि आकाश में ग्रह होते हैं "शं नो दिविचरा ग्रहाः" (अथर्व० १६। ६। ७। अर्थात् ग्रह आकाश में विचरते हैं एवं ग्रह आकाश में विचरणशील पिण्डों का नाम है। इस प्रकार ग्रह मण्डल में सूर्य, चन्द्र आदि समस्त ग्रह उपग्रह अभिप्रेत हैं। सब ग्रह-उपग्रहों को वैश्वानर अग्नि अर्थात् विश्व को ले जाने वाला आग्नेय शक्ति-सम्पन्न काल संवत्सरात्मक विश्वकाल वेद में बतलाया है—

वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतु वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः ।

(ऋ० ६ । ७ । ७)

इस मन्त्र में कहा गया है कि वैश्वानर अग्नि अर्थात् संवत्सर नामक काल ने† द्यु मण्डल के लोकों पिण्डों‡ रोचनों अर्थात् नक्षत्रों और ग्रहों को विमानित अर्थात् मर्यादित किया हुआ है। उक्त विश्व काल से प्रत्येक ग्रह उपग्रह अपनी अपनी अवधि पाकर गतिमान् हो रहे हैं।

ग्रह उपग्रहों की संख्या—

स्थूल दृष्टि से ग्रह उपग्रह "सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि", ये सात उपलब्ध होते हैं परन्तु विशेष दृष्टि से ३५ या ३६ ग्रह उपग्रह मिलते हैं यह पिछले "ध्रुव" प्रकरण में (ऋ० १० । ८६ । १३ - १४ ।) के द्वारा बतलाया जा चुका है। इन ३५ या ३६ ग्रह उपग्रहों की गति तो येन केन उपाय से हम जान सकते हैं परन्तु इन से अतिरिक्त और भी सैकड़ों ग्रह उपग्रह वेद में कहे हैं—

शतं श्वेतास उक्षणो दिवि तारो न रोचन्ते ।
मह्ना दिवं न तस्तभुः ॥

(ऋ० ८ । ५५। २)

---

† "संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः" (श० ६ । ६ । १ । २०)

‡ "इमे वै लोका रजांसि" (श० ६ । ३ । १ । १८)

अर्थ—(दिवि शतं श्वेतासः–उत्त्रणः) द्यु मण्डल में सैकड़ों अर्थात् बहुत* अगणित शुभ्र चमकदार ग्रह हैं† जो (तारो न रोचन्ते) तारों की भांति चमकते हैं। वे (मह्वा दिवं न तस्तभुः) मानो द्यु मण्डल को थाम रहे हैं। ‡

इस प्रकार वेद में ग्रह सैकड़ों एवं अगणित कहे गये हैं जिन की गतिविधि का ज्ञान हमें नही है। उनमें बहुतेरे इतनी दूर हैं कि उनकी प्रकाश किरणें हम तक पहुंचने में सहस्रों और लाखों वर्ष तक लग जाते हैं।

अब सर्व प्रथम ग्रहों में सूर्य का वर्णन अगले प्रकरण में करते हैं।

---

* "शतं बहुनाम" (निघ० ३। १)

† उक्षा ग्रह के अर्थ में देखो "ध्रुव" प्रकरण में देखो (ऋ० १०। ८६। १३-१४) की व्याख्या।

‡ क्वचित्-क्वचित्- 'दिवि देवाः' आदि से भी ग्रहों का वर्णन आता है।

सूर्य

ग्रहमण्डल में सूर्य सब से बड़ा ग्रह है। वास्तव में यह ग्रही-मण्डल का आधार और नायक है अतएव इसे ग्रहपति भी कहा जाता है। वेद में सूर्य के सम्बन्ध में बहुत वर्णन मिलता है, यहां संक्षेप में दिया जाता है।

सूर्य का जन्म और उसकी सहज दो शक्तियां —

प्रलय के अन्धकार के पश्चात सृष्टि के आरम्भ में सूय आदि ज्योतिष्खण्ड जब खण्ड की अवस्था में प्रकाशमान नहीं हुथेए किन्तु खण्ड रूप में विभक्त होने को थे ही तो जिस वस्तु

के ये खण्ड खण्ड बनकर पृथक् हुए वह खण्ड रहित सर्वत्र फैली हुई सूक्ष्म ज्योति थी, वह अखण्ड ज्योति वेद में अदिति (अ-दिति = अ-खण्ड) नाम से कही गई है†। उसी अदिति नाम की अखण्ड ज्योति से पुनः स्थूल ज्योति के रूप में उसके खण्ड खण्ड हो गये। उसका एक एक खण्ड एक एक सूर्य बना, अत एव सूर्य को आदित्य अर्थात् अदिति अखण्ड ज्योति से उत्पन्न हुआ हुआ यह यौगिक नाम वेद में दिया गया है। वह आदित्य जब भली भांति प्रकाशमान हुआ तो तभी उस में पृथिवी आदि गोलों को ऊष्मा (ताप-हरारत) और प्रकाश (दीप्ति-रोशनी) से आगे टक्कर देने वाली शक्ति 'मित्र' नाम से 'मि+त्र' "मि प्रक्षेपणे" (स्वादि)‡ तथा दूसरी उस के विपरीत सौम्य धर्म वाली उन्हीं भूगोल आदियों को संवरण करने वाली—अपनी ओर आकर्षित करने वाली शक्ति 'वरुण' नाम से 'वृ+उनन्' "वृ वरणे" (स्वादि)* यहां कही गई है। ये दोनों 'मित्रावरुणौ' शक्तियां

† दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु ॥
(ऋ० १० । ६४ । ५)

अग्निरप्यदितिरुच्यते (निरुक्त ११ । २३)

पुरुरथो बहुरथो अर्यमाऽऽदित्यः सप्त होता सप्तास्मै रश्मयः।
(निरुक्त ११ २३)

‡ "अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः" (उणा० ४ । १६४)

* "कृवृदारिभ्य उनन्" (उणा० ३।५३)

उसी समय सूर्य से प्रकट हुई $ पुनः उन भूगोल आदि के प्रति भिन्न भिन्न प्रदेशों एवं वारी २ प्रदेशों के क्रम से सात किरणों वाला सूर्य उदित होता हुआ दृष्टिगोचर होने लगा।

उक्त मित्रावरुण शक्तियां सौर मण्डल के प्रत्येक गोल पर अपना प्रभाव निरन्तर डालती रहती हैं। 'मित्र' शक्ति उस गोल को ऊष्मा से आगे टक्कर देती है वह उसे सूर्य के अन्दर प्रविष्ट हो जाने से बचाती है पुनः दूसरी 'वरुण' शक्ति उसे अपनी ओर आकर्षित कर लेती है वह उसे सूर्य से बहुत दूर हो जाने से रोकती है। इस प्रकार दोनों शक्तियां उस पृथिवी गोल आदि की यथावत् स्थिरता और चक्रगति में कारण हैं, मानो 'मित्रावरुणौ' सूर्य की दो भुजाएं हैं उनसे वह पृथिवी आदि गोलों को पकड़ घुमाया करता है "बाहू वै मित्रावरुणौ" (श० ५।४।१।१५) यद्यपि पृथिवी आदि गोलों के घूमते रहने से दो 'मित्रावरुण' शक्तियों का प्रभाव प्रत्येक गोल पर निरन्तर सर्वत्र पड़ता ही है तथापि गोल के प्रदेशों में इनके प्रभाव का प्रधान और गौण भाव होता रहता है। जब ऊष्मा और प्रकाश से युक्त 'मित्र' शक्ति गोल के जिस प्रदेश पर विशेष काम करती है तब उस प्रदेश पर उसकी प्रधानता का प्रभाव दिन के रूप में

$ "मित्रावरुण शक्तियां सूर्य से प्रकट हुई यह निम्न मन्त्रमें भी कहा है—

उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्।
चक्षु मित्रस्य वरुणस्य देवश्चर्मेव य समविव्यक्तमांसि॥
(ऋ० ७।६३।१)

दिखलाई पड़ता है, अतएव कहा है 'मैत्रं वा अहः' (तै० १।७।१०।१) इसी प्रकार जब ऊष्मा और प्रकाश धर्मवाली 'मित्र' शक्ति अपना प्रभाव गोल के जिस प्रदेश से हटाकर गौणरूप से रहती है तब उस प्रदेश पर उसके विपरीत आकर्षण और सौम्य धर्म वाली 'वरुण' शक्ति विशेष काम करती है और उस प्रदेश पर स्तब्धता, शून्यता तथा उदासीनता आदि विशेष प्रभाव रात्रि के रूप में प्रतीत होता है। इसी लिये कहा है "वारुणी रात्रिः" (तै० १।७।१०।१) अस्तु। इस प्रकार ये दोनों मित्रावरुण शक्तियां सूर्य के जन्म के साथ से ही होने से उस की सहज शक्तियां हैं।

सूर्य का स्वरूप—

सूर्य का आकार, सूर्य के अन्दर के पदार्थ और विभाग आदि बातें सूर्य के स्वरूप के अन्तर्गत होती हैं। उन्हें यहां संक्षेप में प्रदर्शित करते हैं,

सूर्य का आकार—

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।

(ऋ० ८।१०१।११, अथर्व० १३।२।२९, २०।५८।३,
यजु० ३३।३९, ४०)

'हाँ सच सूर्य तू महान् है हाँ आदित्य तू महान् है'। इस कथन में सूर्य महान् है यह स्पष्ट है।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥

(ऋ० १।६।१)

यहां कहा गया है कि सूर्य इतना बड़ा अग्निपुञ्ज या अग्नि का गोला है कि आकाश के समस्त प्रकाशमान ग्रह तारे उसकी परिक्रमा करते हैं।' मन्त्र के 'ब्रध्नमरुषं' का अर्थ महान् अग्नि-पुञ्ज है, इसी मन्त्र पर शतपथ ब्राह्मण में कहा है "असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषः" (श० १३।२।६।१) तथा "ब्रध्नो महन्नाम" (निघं० ३।२) "अग्नि र्वा अरुषः" (तै० ३।६।४।१)। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि सूय आकाश के गोलों में सब से बड़ा है।

सूर्य के अन्दर के पदार्थ—

य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ।

(ऋ० १।१५४।४)

'जो सूर्य तीन धातुओं वाला पृथिवी और द्यु लोक तथा समस्त भुवनों को अकेला धारण करता है।'

अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानः।

(ऋ० ३।२६।७)

'लोकों को—आकाश के गोलों पिण्डों को तोलने सम्भालने वाला सूर्य तीन धातु वाला है'।

त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परिसद्यो अन्तान्।

(ऋ० ५।४७।४)

'सूर्य की किरणें † तीन धातुओं वाली हैं जो कि आकाश के ओर छोर में सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं।'

इन उपर्युक्त मन्त्रों में सूर्य और सूर्य किरणों को तीन धातुओं वाला कहा है। वैसे तो सूर्य में अनेक धातुएं हैं परन्तु विभाग क्रम से या प्रधान रूप से तीन धातुएं हैं जोकि जल जल कर सूर्य को इस प्रचण्ड रूप में बनाए रखती हैं। वे धातुएं विभाग क्रम से ठोस, द्रव, वायव्य अर्थात् वायुरूप से स्फुरित या प्रसृत होने वाली एवं तीन प्रकार की हैं, उन्हीं तीन प्रकार की धातुओं के परिणाम सूर्य में अग्निपिण्ड की स्थिरता, ज्वालालाटों का निकलना और किरणप्रसार या किरणसमूह ये तीन क्रमशः हैं। इन तीनों का वर्णन वेद में अन्यत्र किया है—

वीलु चिदारुजत्नुभिर्गुहाचिदिन्द्र वह्निभिः।
अविन्द उस्रिया अनु ॥

(ऋ० १।६।५)

मन्त्र में उन तीनों को 'इन्द्र, वह्नियां, उस्रिया' इन तीन नामों से कहा है‡। यह विभागक्रम से वर्णन हुआ, तथा वे प्रधानरूप से तीन धातुएं हैं कान्त लोह (चुम्बक लोह), गन्धक और महाक्षार (शोरक-स्फोरक) अन्य लोहसदृश धातुएं लोहे के गन्धक जैसी

---

† "गावो रश्मिनाम" (निघं० १।५)

‡ इस मन्त्र का अर्थ अभी हम आगे करने वाले हैं।

धातुएं गन्धक में और शोरे सदृश धातुएं शोरे के अन्तर्गत होजाती हैं। ऐसे ही पदार्थों का संगठित महान् गोलपिण्ड प्रज्वलित हो सूर्यरूप में परिणत हुआ ऐसा अध्यात्मदर्शन और विज्ञान प्रक्रिया से सिद्ध होता है। जैसे धूमरहित अग्नि में इसके अन्दर का कोयला घृत तैल आदि पार्थिव पदार्थ उसकी दीप्ति तथा स्थिरता के हेतु होते हैं इसी प्रकार सूर्य में उपर्युक्त लोह गन्धक आदि पदार्थ निरन्तर जल जल कर उसकी प्रदीप्त स्थिति के कारणरूप हैं। उक्त धातुओं में भी सूर्य की प्रदीप्त पिण्डावस्था का रक्षक असित रंग लोह धातुविशेष है, वेद में कहा है "प्राची दिगग्नि रधिपति रसितो रक्षिता" (अथर्व ३.२७) सूर्य में लोह धातु है वह सामान्य लोहे जैसी नहीं किन्तु कान्त एवं अयस्कान्त (चुम्बक) लोह जैसे नीलापन लिये हुए काली सब्जी की भांति पाषाण मिश्रित है। सूर्य के कान्त एवं चुम्बक लोह में अन्य प्रचण्ड होने वाली उपर्युक्त धातुएं भी मिली हुई हैं अत एव सूर्य का लोह वज्रलोह-चुम्बकलोह है, वेद में इसे इन्द्र नाम से कहा है तथा उन धातुओं का विवरण निम्न मन्त्र में देखें—

वीलुचिदारुजत्नुभिर्गुहाचिदिन्द्र वह्निभिः।
अविन्द उस्रिया अनु ॥

(ऋ० १।६।५)

यह मन्त्र "युञ्जति ब्रध्नमरुषं" इस सूर्य विषयक सूक्त का है। सूर्य का विभागात्मक वर्णन इस मन्त्र में किया है। प्रथम

इस का अन्वयार्थ करते हैं पुनः विभागात्मक स्पष्टीकरण भी किया जावेगा।

अर्थ—(गुहाचित-इन्द्र) 'सूर्यस्य गुहासुचितः-इन्द्र'† सूर्य की गुहाओं में वर्तमान इन्द्र ! तू (वीलुचित्-आरुजत्लुभिः-वह्निभिः) बलवान्‡ तीक्ष्ण वह्नियों—ज्वालालाटों से (उस्रियाः) किरणों को (अन्वविन्द) प्राप्त हुआ।

इस मन्त्र में 'इन्द्र, वह्नियां, उस्रियायें' ये तीन सूर्य की विभागात्मक वस्तुएं कही हैं। इनका कुछ संकेत पीछे भी कर आए हैं, यहां प्रत्येक का विवरण करते हैं।

इन्द्र—यहां सूर्य की गुहाओं में वर्तमान इन्द्र है ऐसा कहने से इन्द्र सूर्य के अन्दर का प्रधान भाग है। इन्द्र विद्युत् का नाम है "यदशनिरिन्द्रः" (कौ० ६।६) विद्युत् में अयस्कान्त लोह चुम्बक जैसा वज्ररूप पदार्थ होता है, जैसे तोप का गोला किसी दीवार आदि को तोड़कर अन्दर घुस जाता है, एवं विद्युत् भी जब किसी मकान पर गिरती है तो उसे तोड़ फोड़ कर अन्दर घुस जाती है। अतः विद्युत् तथा वैदिक नाम से इन्द्र वस्तु अयस्कान्त लोह-चुम्बकरूप-वज्रमय है, जो कि सूर्य में भी है। वेद में अन्यत्र कहा भी है "इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति" (ऋ० १।८४।१) अर्थात 'इन्द्र की धाराएं वज्र को फैंकती हैं।' अतएव सूर्य की गुहाओं में–भीतरी भाग में इन्द्र वस्तु ही एक प्रकार

† 'गुहा-गुहासु, वीलु-वीलुभिः' यहां "सुपां सुलुगिति" (अष्टा० ७।१।३९) से विभक्ति लुक् है।

से वज्ररूप है जो अयस्कान्त लोह आदि ठोस वस्तुओं का परिणाम स्वरूप है। विद्युत् के वज्र में स्फोटक (पोटास) भी है परन्तु सूर्य के वज्र में पोटास नहीं है या इतना अल्प है जो नहीं के बराबर है अन्यथा वह छिन्न भिन्न हो जाता।

वह्नियां—सूर्य में दूसरी वस्तु उसके बहिस्तल पर तीक्ष्ण वह्नियां-तीक्ष्ण ज्वालालाटें हैं जो गन्धक आदि द्रवीभूत हो जाने वाले गन्धक आदि पदार्थों का परिणाम रूप हैं। ये ज्वालाएं सूर्य पिण्ड के चारों ओर वेग से वहती हुई दूर तक उठती हैं। हम देखते हैं कि यदि पत्थर के कोयले का एक फुट ऊंचा ढेर जला दिया जावे तो ढेर से चार पांच इंच ऊंचे उसकी ज्वाला-लाटें उठ जाती हैं, भला जो सूर्य लगभग नौ लाख मील व्यास परिमाण का वज्रमय अग्नि पिण्ड हो उसकी ज्वालालाटें दो-तीन लाख मील तक सूर्यगोल में और उसके ऊपर भी उठती होंगी ऐसा सिद्ध होता है।

उस्रियाएं—तीसरी वस्तु 'उस्रियाएं' अर्थात् सूर्य किरणें हैं, जो कि सूर्यगोल तथा उन्नत ज्वालालाटों के बाहर आकाशमण्डल में निरन्तर स्फुरित एवं प्रसृत होती रहती हैं, इनका स्थूल दृश्य रूप किरण मण्डल है† जोकि सूर्यगोल से बीसों लाख मील दूर तक विद्यमान रहता है* पुनः क्रमशः अदृश्य हो समस्त विश्व

† इसे अंग्रेजी में कारोना (Corona) कहते हैं जो किरण शब्द का रूपान्तर है।

* किरणमण्डल सर्वसूर्यग्रहण में ही दिखलाई पड़ता है।

में फैल जाता है। उक्त किरण मण्डल महाक्षार (स्फोरक-शोरा) जैसे वायव्य अर्थात् स्फुरित हो फैलने वाले पदार्थों का परिणाम है। ये किरणें सौर परिवार के सारे वायु मण्डल में पहुंचती रहती हैं जैसे अग्नि चूर्ण (बारूद) का महाक्षार स्फोरक (शोरा) अग्नि चूर्ण भरे अनार आदि गोले की अपेक्षा बीसों तीसों गुणा अधिक ऊपर स्फुरित होता है, तथा जिस प्रकार पत्थर के कोयले का एक फुट ऊंचा जितना जलता हुआ ढेर सैकडों फुट ऊंचे लम्बे चौडे भवन (हाल) के वायुमण्डल में गरमी और हलचल उत्पन्न कर देता है एवं सूर्य का इन्द्र (वज्रलोह) वह्नियां (ज्वालालाटें) और उस्रियाएं (किरणें) भी सौर परिवार के सारे वायुमण्डल में गरमी और हलचल उत्पन्न कर देते हैं। वेद में अन्यत्र कहा भी है "ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः" (ऋ० १।५०।१२) अर्थात् सूर्य किरणें वज्र से प्रेरित हो अभिभावक बल (Power) को ढकेलती हैं।

सूर्य में कलङ्क कन्दराएं हैं—

सूर्य में काले धब्बे दिखलाई देते हैं हमने भी कई बार नंगी आंखों से पांच छः धब्बे विशेष अभ्यास से प्रातः ८ बजे के लग भग देखे थे। पाश्चात्य ज्योतिषियों का इस विषय में मतभेद है। कुछ कहते हैं कि ये काले धब्बे उभार हैं और कुछ कहते हैं कि ये कन्दराएं हैं। अभी तक ठीक निर्णय पर नहीं पहुंच पाए परन्तु पूर्वोक्त "वीळुचिदारुजत्नुभिगुंहाचिदिन्द्र०," वेद मन्त्र में प्रथम से ही निर्णय दिया हुआ है कि वे काले धब्बे 'गुहाचित'

गुहाएं अर्थात् कन्दराएं हैं। इन्द्ररूप अयस्कान्त लोह (चुम्बक लोह) पदार्थ इन्हीं गुहाओं से अपने वज्ररूप तत्वों को बाहर बिखेरता है जिस से ज्वालालाटें और किरणें निरन्तर बनती रहती हैं, कभी कभी वज्ररूप तत्त्व इतने अधिक एवं घनीभूत अवस्था में होजाते हैं कि ऊपर की ज्वालालाटें वहां से मिट जाती हैं पुनः ज्वालालाटों के बीच कन्दरा बन जाती है, वे कन्दराएं वास्तव में अयस्कान्तलोह चुम्बकरूप वज्रमय पदार्थ का निम्न भाग या ज्वालाओं के अन्दर का भाग है पुनः काला वायव्य भँवर (गैस Gasious) बनकर बाहर उठ चक्कर लगाने लगता है, जैसे ही ज्वालालाटों का समूह (ज्वालाओं का बादल) उस पर लपकता है तब वह ज्वल उठता है और पूर्व रूप से मिट जाता है फिर उसी जगह अन्दर से उस कन्दरास्थित अयस्कान्त लोह चुम्बक रूप वज्रमयपदार्थ का वेग उठता है पुनः बाहर उसी जगह काला भँवर बनकर चक्कर लगाने लगता है। इस प्रकार काले धब्बे का प्रकट होकर मिट जाना और उसी जगह जहां वह मिट गया पुनः काले धब्बे का उठ आना भी कन्दराएं होना सिद्ध करता है इन काले धब्बों के इन्द्र अर्थात् अयस्कान्त लोह चुम्बकीयतत्व होने से चुम्बकीय वस्तुओं पर प्रभाव पड़ता है अत एव उत्तरदिशा सूचक चुम्बकीय यन्त्र (कुतुबनुमा) की सुई इन काले धब्बों के दिनों में बदलती रहती है तथा उत्तर ध्रुवीय प्रदेश में रात्रि में दीखने वाली उत्तरीय उषा-महोषा (Aurora) जो बहुत सुन्दर और नाचती हुई

साड़ी या झालर की भांति दिखलाई पड़ती है वह इन काले धब्बों के दिनों में बहुत बढ़ जाती है। अस्तु सूर्य में कृष्णभाग का वर्णन ऋग्वेद में अन्यत्र भी है—

अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः संभरन्ति।
(ऋ० १। ११५।५)

'सूर्य की किरणें इसके अन्य अनन्त शुभ्र प्रकाशमान भाग को तथा अन्यत् कृष्ण भाग को धारण करती हैं' इस कथन से सूर्य में कृष्णभाग स्पष्ट है। अस्तु। सूर्यकलङ्क के सम्बन्ध में यह भी बतला देना आवश्यक है कि सूर्य कलङ्क की खोज सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों ने ही की है ऐसा नहीं किन्तु इनसे भी कई सहस्र वर्ष पूर्व भारतीय महानुभावों ने इसका निरीक्षण कर लिया था जैसा कि 'बाल्मीकिरामायण' में कहा है "आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते" (वा. रामा. युद्ध. सर्ग २३। ६) यहां राम लक्ष्मण से कहते हैं कि 'हे लक्ष्मण विमल सूर्य में नीला धब्बा दिखलाई पड़ता है'। अस्तु।

सूर्य की गरमी का क्या कभी अन्त हो जावेगा—

सूर्य प्रचण्डरूप से निरन्तर करोड़ों अरबों वर्षों से जल रहा है इसका जलने वाला पदार्थ (Matter) समाप्त हो जाना चाहिये यह एक प्रश्न है। इसका उत्तर यह भी हो सकता है कि जैसे पृथिवी के अन्दर से पत्थर का कोयला लगातार निकलता जा रहा है पर समाप्त होने में नहीं आता एवं सूर्य में भी जलने

वाला पदार्थ इतना अधिक है कि समाप्त नहीं हो पाता। परन्तु यह उत्तर सन्तोषजनक तथा युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि चाहे कुवेर का कोष भी हो, व्यय होते रहने से अन्त हो जाना ही चाहिये परन्तु सूर्य के इतिहास में यह बात घटित नहीं हुई। अन्य पाश्चात्य विद्वान् अभी निर्णय पर नहीं पहुंचे, हां यह अनुमान अवश्य करते हैं कि सूर्य में गरमी या तो पूर्णतया किसी अन्य रीति से आती है या कमसे कम इसका कुछ अंश अवश्य किसी अन्य रीति से आता है। अस्तु। हम इस प्रश्न का वैदिक दृष्टि से समाधान करने के लिए प्रथम इसी जैसा एक प्रश्न और उठाते हैं वह यह कि प्रति वर्ष आकाश से पृथिवी पर करोड़ों अरबों मन से भी ऊपर जल गिरता चला जारहा है पर कमी नहीं होती, वह इतना जल आकाश में कहां से आता है। इसका उत्तर विद्वानों के प्रत्यक्ष है कि आकाश से जितना जल पृथिवी पर बरस जाता है पुनः उतना ही जल पृथिवी के जलाशयों और समुद्र से ऊपर आकाश में चढ़ जाता है, इस प्रकार जल के आने पुनः जाने से आकाश का जल समाप्त नहीं हो पाता*। इसी प्रकार सूर्य अग्निपुञ्ज से गरमी आती है और फिर चली जाती है, कारण कि सूर्य की उत्पत्ति के साथ से ही उसमें जो दो सहज शक्तियां मित्र (सम्प्रेरण शक्ति) और वरुण (आकर्षण-

---

*आकाश में सूक्ष्म जल सदा वर्तमान रहता है '- अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्" (६ । २ । ३ । ३६)।

शक्ति) पीछे 'सूर्य का जन्म और उसकी दो सहज शक्तियां' प्रकरण में अभी बतला आये हैं उनमें से मित्र शक्ति (सम्प्रेरण-शक्ति) ऊष्मा (गरमी) को पृथिवी आदि पर प्रेरित करती है और वरुण शक्ति (आकर्षण शक्ति) गरमी का पुनः आकर्षण करती है। एवं सूर्यमण्डल से जितनी गरमी निकलती है उतनी ही पुनः प्राप्त भी हो जाती है अतएव सूर्य के आकार और ताप में कमी नहीं हो पाती। यदि सूर्य में मित्र शक्ति-गरमी को धकेलने की शक्ति ही होती और वरुण शक्ति उसे पुनः आकर्षण करने–लौटाने की शक्ति न होती तो अब तक सूर्य से निरन्तर गरमी आते रहने से पृथिवी के पदार्थ जल भुन जाते, दिन भर गरमी सख्त पड़ी भूमि तप्त तवा बनी, रात में ठण्डी हो गई। आखिर! यह गरमी भूमि से दीपशिखा की भांति स्वकेन्द्ररूप सूर्यमण्डल की ओर आकाश में ही तो उड़ी। या यों समझिए सूर्य की मित्र शक्ति-सम्प्रेरण शक्ति जितनी गरमी पृथिवी आदि पर फैंकती है वरुण शक्ति-आकर्षण शक्ति पृथिवी आदि से पार्थिव आदि तत्वों को ऊपर लेजा उतनी ही गरमी पुनः उत्पन्न करने का निमित्त बनती है, इस लिए सूर्य न समाप्त होने वाला अग्नि-पुञ्ज है यह वेद में अन्यत्र कहा भी है—

अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो धर्मः।
(ऋ. ३।२६।७)

अर्थात् सूर्य तीन धातुओं इन्द्र (अयस्कान्त लोह-चुम्बकीय पदार्थ) वह्नियों (ज्वालाओं) उस्रियाओं (किरणों) से युक्त

अजस्र—न समाप्त होने वाला अग्निपुञ्ज है। अस्तु।

सूर्य दूर है—

दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरे अर्थ स्तरणि र्भ्राजमानः।

(ऋ. ७।६३।४)

अर्थात् 'अनेकों पृथिवी आदि गोलों को चमकाने वाला तीक्ष्ण तापकारी सूर्य जो आकाश में छोटा भूषण जैसा दिखलाई पड़ता है वह छोटा नहीं है किन्तु 'दूरे अर्थः' जिसका मण्डल पृथिवी आदि गोलों से दूर है'। मन्त्र के 'दूरे अर्थः' में अर्थ शब्द मण्डल के लिये आया है, इसके लिये निम्न मन्त्र देखें—

यं सीम कृण्वन् तमसे विपृचे ध्रुवक्षेमा अनवस्यन्तो अर्थम्।
तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वी स्पांशं विश्वस्य जगतो वहन्ति॥

(ऋ. ४।१३।३)

यहां कहा है कि "स्थिरसत्ता वाली सातरंग की किरणें अन्धकार को हटाने के लिए अर्थम्—मण्डल—प्रकाशमण्डल को 'अनवस्यन्तः' समाप्त न्यून या क्षीण न करती हुई जगत् के रूपदाता आधाररूप सूर्य को वहन करती हैं।" यहां किरणों को 'अनवस्यन्तो अर्थम्' प्रकाशमण्डल—सूर्य मण्डल को समाप्त न करती हुई कहने से स्पष्ट होता है कि सूर्य मण्डल से ऊष्मा (गरमी) कम नहीं होती।

सूर्य अनेक हैं—

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥

(ऋ. ८ । ७० । ५, अथर्व २० । ८१ । १,९२ । २०)

इस मन्त्र में 'शतं सूर्याः' से सैंकड़ों सूर्य होने का सङ्केत है, निघण्टु में 'शत' शब्द अनेकार्थ में दिया है "शतं बहुनाम" (निघं. ३ । १) ।

कत्यग्नयः कति सूर्यासः

(ऋ. १० । ८८ । १८)

'कितनी अग्नियां हैं कितने ही सूर्य हैं" ।

एक एक ब्रह्माण्ड (सौर क्षेत्र) में एक एक सूर्य है । ब्रह्माण्ड (सौर क्षेत्र) अनेक हैं अतः सूर्य भी अनेक हैं ।

सूर्य का आधार—

सूर्य का आधार क्या है इस विषय में पाश्चात्य ज्योतिषियों ने कोई विशेष प्रकाश अभी तक नहीं डाला है किन्तु वेद कुछ बातें बतलाता है जो निम्न प्रकार हैं—

वहिष्ठेभिर्विहरन् यासि तन्तुमवव्ययन्नसितं देव वस्म ।
दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्वन्तः ॥
अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ्ङुत्तानोवपद्यते न ।
कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम् ॥

(ऋ. ४ । १३ । ४-५)

अर्थ—(देव) ओ विश्व के द्योतमान झाडफानूसरूप सूर्य ! तू (असितं वस्म । विना बन्धे हुए अस्माने—आकाशरूप शामयाने में (तन्तुम्-अवव्ययन्) डोरी को न स्वीकार करता हुआ-बिना डोरी के लटका हुआ (वहिष्ठेभिः-विहरन्) अत्यन्त वहनशील किरणों के द्वारा विहार करता हुआ (यासि) घूमता है (सूर्यस्य दविध्वतः-रश्मयः) तुम सूर्य की दीप्त फरकती हुई किरणें (अप्सु-अन्तः-तमः) अन्तरिक्ष में से† अन्धकार को (चर्मेव-अवाधुः) चर्म की भांति–त्वचा शरीर पर से हटा देने से अन्दर की हृदय फुप्फुस आदि यन्त्र-कला दिखलाई देने लगती है एवं अन्तरिक्ष में से अन्धकार को विश्व की यन्त्रकला दिखलाने के लिये हटा देती हैं। यह झाडफानूस रूप सूर्य न केवल डोरी के बिना ही अपितु (अनिबद्धः) निबद्ध अर्थात् जड़ा हुआ या चिपका हुआ भी नहीं है । तथा (अनायतः) खिंचा हुआ-किसी दूसरे से आकर्षित हुआ भी नहीं है (अयम्-उत्तानः) यह ऊपर टंगा हुआ (कथा न) क्यों नहीं (न्यङ्ङवपद्यते) नीचे गिर पड़ता (कया स्वधया याति) किस स्वधारण शक्ति से विचरता है (कः-ददर्श) प्रजापति जानता है‡ अथवा (कया स्वधया याति) किस स्वधारण शक्ति से विचरता है इस बात को (कः-ददर्श) कौन जानता है अर्थात् कोई नहीं (दिवः समृतः स्कम्भः-नाकं याति) द्यु मण्डल-प्रकाशमानगोल-

† "आपः इत्यन्तरिक्ष नाम" (निघं० १ । ३)

‡ "प्रजापति वै कः (श० ६ । ४ । ३ । ४)

समूह का दृढ़ खम्बा जैसा आधार द्यु मण्डल की रक्षा करता है॥

यहां कहा गया है कि सूर्य स्वधा अपनी धारण शक्ति से विचरता है इस 'स्वधा-स्वधारण शक्ति को निज आकर्षण शक्ति कह दिया जावे तो क्षति नहीं। साथ में उसे 'अनायतः' किसी दूसरे से खिंचा हुआ-आकर्षित भी नहीं है ऐसा कहा है इस से भी स्पष्ट है कि सूर्य अपने आकर्षण से ठहरा हुआ है वह उसकी शक्ति यहां स्वधा नाम से कही है। सूर्य 'स्वधा' नाम की स्वधारण शक्ति से विचरता है यह "प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शोभ०" (अथर्व० १३ । २ । ३) में भी कही है।

तथा

अयं स्तुतो राजा वन्दि वेधा अपश्च विप्रस्तरति स्वसेतुः।
स कक्षीवन्तं रेजयत्सो अग्निं नेमिं न चक्रमर्वतो रघुद्रु ॥
(ऋ० १० । ६१ । १६)

खगोल में वर्तमान गोलोंरूप प्रजाओं का स्वामी सूर्य 'स्वसेतुः' अपने से ही बन्धा हुआ, किसी दूसरे से नहीं अर्थात् अपने आधार पर ठहरा हुआ 'स्वसेतुः यस्य स्वभूता रश्मयो जगद्बन्धकाः सन्ति" (सायणः) वह सूर्य 'अपस्तरति' अन्तरिक्ष में—आकाश में विचरता है। "अपश्चान्तरिक्षं तरति लङ्घयति (सायणः") वह सूर्य 'कक्षीवन्तम्' कक्षावृत्त में घूमनेवाले पृथिवी आदि गोल को तथा 'अग्निम्' अपने ज्वालासमूह को नेमि और चक्र की भांति घुमाता है। इस प्रकार सूर्य का ज्वालासमूह सूर्यपिण्ड के चारों ओर समुद्र जल के समान चक्कर खाता रहता है। अस्तु।

सूर्य की आधार विषयक अन्य बातें 'सूर्य का घूमना' इस अगले प्रकरण में आवेंगी।

सूर्य का घूमना—

इससे पूर्व के प्रकरण में बतलाया गया है कि सूर्य 'अनायतः' किसी दूसरे से खिंचा हुआ—आकर्षित हुआ नहीं है किन्तु वह स्वयं अपने ही आधार पर है यही बात घूमने में भी है, सूर्य किसी दूसरे से आकर्षित होने के कारण नहीं घूमता किन्तु वह अपने आप ही स्वयं घूमता है। सूर्य घूमता है और अकेला बिना किसी के सहारे घूमता है यह बात निम्न मन्त्र में कही है—

सूर्य एकाकी चरति।

(यजु० २३। १०)

'सूर्य अकेला घूमता है†।' सूर्य किसी दूसरे के चारों ओर नहीं घूमता किन्तु अपने ही अक्ष पर घूमता है।

हम यहां यह एक बात बतला देना चाहते हैं कि सूर्य से भिन्न पृथिवी आदि गोलों का घूमना भिन्न भिन्न तीन केन्द्रों पर तीन प्रकार का होता है। एक तो अपने केन्द्र पर सूर्य के सम्मुख पश्चिम से पूर्व को घूमना दूसरे सूर्य को केन्द्र बना कर उसके चारों ओर घूमना तीसरे ध्रुवीय अक्ष पर घूमना‡ परन्तु सूर्य

† सूर्योऽसहायो गच्छति (महीधरः)

‡ द्वादशप्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि (ऋ० १।१६४।४८ अथर्व० १०।८।४) इससे प्रत्येक आकाशीय पिण्ड का तीन केन्द्रों पर घूमना अनिवार्य है।

किसी दूसरे के चारों ओर न घूमकर अपने ही अन्दर तीनों केन्द्र बनाकर घूमता है। जैसा कि वेद में कहा है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवना अधितस्थुः।
(ऋ० १।१६४।२, अथर्व० ६।६।२)

अर्थ—(एकचक्रं रथं सप्त युञ्जन्ति) एक चक्रवाले सूर्य मण्डल रूप रथ को सात किरणें युक्त होती हैं (एकः अश्वः सप्त-नामा वहति) सात नामों वाला—सात किरणें जिसके प्रति रसों को नमाती हैं वह सूर्य उक्त अपने मण्डल रूप रथ को ले जाता है* (त्रिनाभि चक्रम्, अजरम्, अनर्वम्) वह चक्र तीन नाभियों वाला—तीन केन्द्रों वाला क्षयरहित अप्रतिहत न रुकने वाला या दूसरे पर अनाश्रित है (यत्-इमा विश्वा भुवना-अधितस्थुः) जिसमें ये सब पृथिवी आदि गोले आश्रित हैं।

यहां सूर्य मण्डल के चक्र को तीन नाभियों वाला—तीन केन्द्रों वाला कहा है। ये तीनों नाभियां अर्थात् केन्द्र सूर्यमण्डल के चक्र में अन्दर कही हैं, वह कैसे यह देखिये—हम पीछे 'सूर्य का स्वरूप' प्रकरण में "वीळुचिदारुजत्नुभि गुहाचिदिन्द्र वह्निभिः अविन्द उस्रिया अनु॥" (ऋ० १।६।५) मन्त्र द्वारा बतला आए हैं कि सूर्य में तीन विभाग 'इन्द्र (अयस्कान्त लोह चुम्बकीय पदार्थ रूप अन्दर का भाग) वह्नियां। उसके ऊपर ज्वालालाटें, उस्रियांएं

---

* सप्तनामादित्यः सप्तास्मै रश्मयो रसानाभिसन्नामयन्ति।" निरुक्त ४।२७

(सबसे ऊपर किरणें) हैं, सो इन तीनों से युक्त सूर्य मण्डल तीन नाभियों वाला--तीन केन्द्रोंवाला चक्र है। कारण कि प्रथम इन्द्र (अयस्कांत लोह चुम्बकीय पदार्थमय पिंड) अपने मध्य बिंदु को केंद्र बनाकर घूमता है, पुनः उसके ऊपर चारों ओर वर्तमान वह्नियां (ज्वालालाटें) उस इन्द्र (अयस्कांत लोहचुम्बकीयपदार्थ-मय पिंड) को केंद्र बना कर उसके चारों ओर घूमेंगी, फिर उस्रियाएं (किरणें) उस वह्निमण्डल (ज्वालालाटों के घेरे) को केंद्र बनाकर उसके चारों ओर घूमेंगी, इस प्रकार सूर्य मण्डल का चक्र तीन नाभियोंवाला या तीन केंद्रों वाला है अतएव सूर्य का त्रिकेन्द्र भ्रमण है। सूर्य अपने अक्ष पर घूमता है इसे पाश्चात्य ज्योतिषियों ने सूर्य कलङ्कों की गति के आधार पर बतलाया है, उनके सम्मुख इन कलङ्कों के भ्रमण के सम्बन्ध में एक विकट प्रश्न वह है कि "सूर्य अपने अक्ष पर घूमता है यह बात कलङ्कों की गति से जानी गई है परन्तु विचित्र बात यह है कि मध्य रेखा के पासवाले कलङ्क शीघ्रगामी हैं मध्य रेखा से एक ही दूरी पर स्थित कलङ्क भी ठीक ही नियत काल में चक्कर नहीं लगाते‥अभी तक नहीं मालूम इसका क्या कारण है" (सौर परिवार। सूर्य कलङ्क पृष्ठ २७६) वास्तव में कलङ्कों की भिन्न गति एवं अनियमित गति का कारण पूर्वोक्त वेद में कहा हुआ सूर्य मण्डल चक्र का त्रिकेंद्र भ्रमण है।

सूर्य का अपने अक्ष पर घूमने का क्षेत्र--

उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।
(ऋ० १।२४।८)

रदत्पथो वरुणः सूर्याय

(ऋ० ७।८७।१)

इन दोनों मंत्रों में वरुण सूर्य का मार्ग बनाता है ऐसा कहा है। पिछले वरुण (परिधिमण्डल) और वातसूत्र प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि परिधिमण्डल को वरुण कहते हैं अतः सूर्य अपने परिधिमण्डल में घूमता है।

सूर्य जबकि किसी दूसरे ग्रह के चारों ओर नहीं घूमता अपने परिधि मण्डल में अपने अक्ष पर स्वयं कैसे घूमता है यह देखिये—

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन् यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः॥

(ऋ० ७ । ६३ । २)

अर्थ—(सूर्यस्य- अर्णवः-महान् केतुः) सूर्य का समुद्रतुल्य वेगवान महान् स्फुरणशील ज्वालासमूह† (जनानां प्रसविता-उद्वेति) जायमान ग्रह उपग्रह आदि का प्रेरक उदय होता है—

---

† उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥

(ऋ० १ । ५० । १)

"उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः" ॥ (निरु० १२।१५)
बहुवचन 'केतवः' सूर्यकिरणों को कहा है एवं एक वचन 'केतुः' का अर्थ सूर्य का किरणसह या ज्वालासमूह है।

सूर्य के अन्दर से बाहर स्फुरित होता है। जोकि (समानं चक्रं पर्याविवृत्सन्) सब पृथिवी आदि गोलों के एक मानकारी-थामने वाले चक्ररूप गोलाकार मध्यस्थ सूर्यपिण्ड को 'पर्याविवृत्सन्-पर्यावर्तयितुमिच्छन्–पर्यावर्तयन्निव-परिभ्रामयन्निव-स्वस्मिन् स्थाने भ्रामयन्नित्यर्थः' घुमाना चाहता हुआ-घुमाता हुआ जैसा अर्थात् किसी दूसरे गोल के चारों ओर नहीं किन्तु स्वकेन्द्र एवं स्वपरिधिमण्डल पर ही घुमाता हुआ (धूर्षु युक्तः-एतशः-वहति) धुरा में जुडे हुए घोडे की भांति गतियुक्त करता है।

इस मन्त्र में 'पर्याविवृत्सन्-'शब्द से सूर्य का अपने केन्द्र पर घूमने का वर्णन है साथ में उसके घूमने का कारण भी सूर्य का अपना "अर्णवो महान् केतुः" समुद्रचक्रवेगवान् महान् स्फुरण-शील ज्वालासमूह बतलाया है। जैसे अग्निचूर्ण वाले चक्र (बारूद के चरखे) की वेग से निकलती हुई स्फुरण शील ज्वालाएं उसको घुमा देती हैं एवं सूर्य की उक्त वेगवाली स्फुरण-शील ज्वालाएं सूर्य को घुमा देती हैं†। सूर्य का ज्वाला-समूह स्फुरित होता है यह बात भी वेद में कही है "यः सप्तरश्मिर्वृषभ-स्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्तसिन्धून्। यो रौहिणमस्फुरत् ॥" (ऋ० २।१२।१२) यहां "सात किरणों वाला सूर्य रौहिण

† सौर मण्डल या सौर परिवार के किसी भी ग्रह के चारों ओर सूर्य नहीं घूमता है यह हो सकता है कि वह अपने समस्त सौर मण्डल सहित किसी अन्य अपने सौरमण्डल से बाहर के तारे की ओर गति करता हो।

अर्थात् लाल ज्वाला समूह को स्फुरित करता है" ऐसा कहा है। अस्तु।

सूर्य अन्य आकाशीय पिण्डों का आश्रय—

आकाश के समस्त ग्रह उपग्रह सूर्य के आधार पर एवं नियन्त्रण में वर्तमान रहते हैं संक्षेप में वर्णन करते हैं।

समस्त आकाशीय पिण्ड सूर्य पर अवलम्बित हैं—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः॥

(ऋ० १।१६४।२)

इस मन्त्र का अर्थ अभी हम पीछे कर आए हैं, यहां तो यही दर्शाना विशेष है कि "यत्रेमा विश्वा भुवना-अधितस्थुः" सूर्य मण्डल रूप चक्र के आश्रय में समस्त आकाशीय पिण्ड रहते हैं।

तथा—

सवितुर्देवस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः।

(ऋ० १।३५।५)

सूर्य देव के आंचल में-क्षेत्र में सब पिण्ड वर्तमान हैं।

आकाश में विशेष चमकने वाले ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं—

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि॥

(ऋ० १।६।१- यजु० २३।५, अथर्व० २०।४७।१०,६९।९)

अर्थ—(दिवि रोचना रोचन्ते) आकाश में जो विशेष चमकने वाले पिण्ड अर्थात् ग्रह हैं, वे (तस्थुषः-चरन्तं ब्रध्नम्-अरुषं परि-युञ्जन्ति) स्थावरों को प्राप्त होने वाले महान्† अग्निपिण्डरूप‡ सूर्य की$ परिक्रमा करते हैं ॥

उक्त मन्त्र में यह बात स्पष्ट है कि आकाशीय ग्रहपिण्ड सूर्य की परिक्रमा करते हैं।

सूर्य समस्त ग्रह आदि को प्रकाश देता है—

विश्व में प्रत्येक वस्तु सूक्ष्म अणु अथवा महान् अतिमहान् सब सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित हैं अतः ग्रह उपग्रह आदि आकाशीय पिण्ड भी सूर्य से ही प्रकाश लेकर प्रकाशमान हैं। वेद में इस विषय की पर्याप्त चर्चा है यहां संक्षेप में लिखते हैं।

सूर्य अपनी प्रकाशतरङ्गों से अप्रकाशित को प्रकाशित करता है—

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ॥

(ऋ० १।६।३)

अर्थ—(मर्याः- अकेतवे केतुम्-अपेशसे पेशः उषद्भिः कृण्वन् समजायथाः) हे मनुष्यो ! यह सूर्य अपनी उष्ण प्रकाश तरङ्गों

† "ब्रध्नो महन्नाम" (निघं० ३।२)
‡ "अग्नि र्वा अरुषः" (तै० ३।६।४।१)
$ "असौ वा आदित्यो ब्रध्नो ऽरुषः" (श० १३।२।६।१)

से अदृष्ट को दृष्ट अरूप को सरूप§करने के लिये उदित होता है।

सूर्य से प्रकाश की लहरें चलती हैं वे ही किसी भी वस्तु को दिखलाती और चमकाती हैं, रात्रि के समय सूर्य पृथिवी के दूसरे भाग की ओर होता है वह हमें नहीं दीखता है तथापि आकाश में वह वर्तमान रहता है अतएव उस से प्रकाश की लहरें पहुंचकर अन्य आकाशीय पिण्डों को प्रकाशित कर देती हैं इस लिये वे रात्रि में चमकते हैं।

सूर्य समस्त ज्योतिष्मण्डल को प्रकाश देता है—

तरणि र्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमाभासि रोचनम् ॥

(ऋ० १।५०।४, यजु० ३३।३६, अथर्व० १३।२।१९)

'सूर्य शीघ्रकारी तुरन्त विश्व को दर्शनीय बनाने वाला प्रकाश का कर्त्ता समस्त ज्योतिष्मण्डल को चमकाता है' ऐसा यहां कहा है।

सूर्य से चन्द्रमा प्रकाशित होता है—

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः।

(यजु० १८।४०)

यहां कहा गया है कि चन्द्रमा सूर्य से रश्मि प्राप्त किये हुए है। यही बात निरुक्त में कही है "अथाप्येको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते—आदित्यतोऽस्य दीप्ति र्भवतीति—सुषुम्णःसूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः"

§ "पेशो रूपनाम" (निघ: ३।७)

(निरुक्त । २ । ६) अर्थात् सूर्य की एक रश्मि चन्द्रमा के प्रति दीप्त होरही है क्योंकि सूर्य से इसकी दीप्ति होती है।

इस प्रकार सूर्य ही समस्त पिण्डों को प्रकाश देता है या सूर्य से ही समस्त ग्रह पिण्ड प्रकाशित होते हैं।

सूर्य किरणों की संख्या आदि—

सूर्य किरणों की संख्या भिन्न भिन्न अवस्था या दृष्टि कोण के भेद से भिन्न भिन्न है, यहां हम वेद के द्वारा इस पर प्रकाश डालते हैं।

सूर्य किरणें लहरों के रूप में सहस्रों हैं—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश'

(ऋ. ६ । ४७ । १८)

युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशेति सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः। तेऽस्य युक्तास्तैरिदं सर्वं हरति ॥

(जै. उ० १ । ४४ । ५)

उक्त ऋग्वेद के मन्त्र और उसके व्याख्यान करने वाले ब्राह्मण वचन में सूर्य किरणें सहस्र बताई हैं जो कि लहरों के रूप में हमें प्राप्त होती हैं। प्रश्नोपनिषद् में भी सूर्य को सहस्ररश्मि वाला कहा है "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः.......सहस्ररश्मिः" (प्रश्नो० १ । ८)।

सूर्य किरणें सहस्रों एक शिरवाली हैं—

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ॥

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्याभृतः ॥
स धाता स विधाता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥
सोऽग्निः स सूर्यः स उ एव महायमः ॥
तं वत्सा उपतिष्ठन्त्येक शीर्षाणो युता दश ॥
पश्चात् प्राञ्च आतन्वन्ति यदुदेति विभासति ॥
(अथर्व० १३।४।१–७)

यहां सूर्य के सहस्रवत्स-सहस्र किरणों को एक शिर वाली अर्थात् नीचे शिर वाली कहा है। सूर्य किरणें लहरों के रूप में नीचे की ओर सिर किए हुए प्राप्त होती हैं उनके नीचे के भाग में शिर होता है ऐसा तात्पर्य है।

रंगभेद से किरणें सात हैं—

यः सप्तरश्मि वृषभस्तुविष्मान्... ।
(ऋ० २।१२।१२)

यः सप्तरश्मिरिति सप्त ह्येत आदित्यस्य रश्मयः।
(जै० उ० १।२६।८)

उक्त ऋग्वेद के मन्त्र और उस की व्याख्या में जै. उ. में सूर्य को सात रश्मि वाला कहा गया है।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
(ऋ. १।१६४।२, अथर्व. ६।६।२)

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकचारिणं चक्रं चक्रतेर्वा क्रामतेर्वा एको अश्वो वहति सप्त नामा ऽऽदित्यः सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति (निरुक्त ४।२७)

इस ऋग्वेद के मन्त्र तथा उस पर निरुक्त में सूर्य की सात किरणें कही हैं।

अत्र दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः।
आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन्॥

(अथर्व. ७।११२।१)

यहां सूर्य की सात किरणें अन्तरिक्ष की जलधाराओं को आकाश से बरसाती हैं ऐसा कहा है। सूर्य की सात किरणें हैं यह स्पष्ट कहा है। हम आगे चल कर बतलाएंगे कि वे सात किरणें भिन्न भिन्न रंग के कारण हैं इन्हीं का विश्लेषण पूर्व कही हुई लहर रूप सहस्र रश्मियां हैं।

उक्त सात रंग की किरणों में भी दो किरणें वेद में मुख्य बतलाई हैं यह अब देखें।

दो मुख्य सूर्य किरणें—

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः।
तस्मा इन्द्राय गायत॥

(ऋ. १।५।४)

अर्थ— (यस्य संस्थे हरी) जिस सूर्य की दो किरणें †

† "हरि हरणा आदित्यरश्मिः" (निरुक्त ।७।२४)

सूर्यमण्डल में ऐसी हैं जिन्हें (शत्रवः समत्सु न वृण्वते) शत्रुजन संग्रामों में† सह नहीं सकते हैं (तस्मै-इन्द्राय गायत) विद्वानो! उस सूर्य का गुण वर्णन-व्याख्यान करो।

दो हरियां सूर्य की दो किरणें हैं वेद में अन्यत्र यह बात कही भी है—

स्तवा हरी सूर्यस्य केतू।

(ऋ. २।११।६)

यहां सूर्य की हरियों को सूर्य के केतु कहा है, केतु का अर्थ किरण है यह निरुक्त में कहा है "उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥" की व्याख्या में "उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः-केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति (निरुक्त १२।१६)

अब यह देखना है कि सूर्य की वे दो किरणें कौनसी हैं जिन्हें शत्रु जन संग्रामों में सह नहीं सकते। ऐतरेयब्राह्मण में कहा है— "ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी" (ऐ. ८-६) वे सूर्य की दो हरियां किरणें ऋक् और साम हैं, जोकि "अथ यदेतदादित्यस्य शुक्ल भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम" (छान्दोग्यो० ।१।६।५) अर्थात् सूर्य की उन दो किरणों में एक 'शुक्ल भाः' किरण दूसरी अत्यन्त काली जैसी नीली या नीलिमा से लगती हुई काली किरण है। इन दोनों किरणों के मेल से संग्रामों में शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो सकता है। यहां ऐसा ध्वनित होता है कि उक्त दो किरणों से सौर अस्त्र

† "समत्सु संग्राम नाम" (निघ० २।१७)

बन सकता है। 'वाल्मीकि रामायण' में विश्वामित्र ऋषि द्वारा राम को अस्त्र प्रदान प्रकरण में सौर अस्त्र का वर्णन किया है* सूर्य किरणों से आग्नेय कांच (आतशी शीशे) के द्वारा आग लग जाने का कारण भी उक्त दोनों किरण हैं। आग्नेय कांच में जब उक्त दोनों किरणें मिलती हैं तभी आग लगती है, शेष किरणें इन्हीं दोनों किरणों की सहायक होती हैं। जहां शुक्लभाः है अत्यन्त काली जैसी नीली किरण नहीं वहां प्रकाश होते हुए भी जलाने का काम नहीं हो सकता जैसे खद्योत आदि और जहां शुक्लभाः नहीं वहां अन्य किरणों के होते हुए भी दीप्त ज्वाला या लपट नहीं उठती जैसे दबी अग्नि आदि।

उपर्युक्त दोनों शुक्लभाः और नील जैसी काली किरणों में शुक्लभाः नासक किरण प्रधान है अब यह देखिये।

सूर्य की सर्व प्रधान एक शुक्लभाः किरण—

इदं सवितर्विजानीहि षड् यमा एक एकजः।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः॥
(अथर्व० १०।१।५)

इस मन्त्र में 'य एषामेक एकजः' इन सात किरणों में जो 'एकज एक किरण' शुक्लभाः है 'तस्मिन् ह-अपित्वम्-इच्छन्ते' उसमें शेष किरणें लय चाहती हैं—लीन होने की ओर झुकी

* "सौरं तेजःप्रभं नाम परतेजोपकर्षणम्" (वाल्मीकि रा। बाल। सर्ग २७।१६)

रहती हैं ऐसा कहा है। एक एकज सातवीं किरण ऋग्वेद में भी कही है†।

भिन्न रंगों की कारण किरणें—

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडियमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥

(ऋ० १।१६४।१५)

यहां कहा है कि 'साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं' एक साथ उत्पन्न होने वाली सात किरणों में एकज किरण सप्तथ—सातवीं कही गई है वह शुक्लभाः है और 'विकृतानि रूपशः' उनके भिन्न-भिन्न रूप वाले—भिन्न-भिन्न रंगों वाले प्रभाव 'धामशः' किसी भी स्थान पर गति करते हैं या प्राप्त होते हैं।

सूर्यकिरणों को पृथिवी आदि पर पहुंचने में देर नहीं लगती—

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः।
नमस्यन्तो दिव आपृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः॥

(ऋ० १।११५।३)

इस मन्त्र में 'हरितः' सूर्य किरणें "हरितः रसहरणशीलाः रश्मयः" (सायणः) पृथिवी पर 'सद्यः परियन्ति' तत्क्षण पहुंच जाती हैं—सेकण्डों में ही पहुंच जाती हैं।

सूर्य एवं सूर्यकिरणों से दिशा और काल की प्रवृत्ति—

† वह मन्त्र नीचे साथ ही 'साकञ्जानां' दिया है।

सूर्य एवं सूर्य किरणों से पृथिवी आदि गोलों को अपेक्षित करके दिशा तथा काल की प्रवृत्ति होती है, अब इस विषय पर संक्षेप में लिखते हैं।

दिशाओं की प्रवृत्ति—

दिशां प्रज्ञानां* स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशु पतयन्तमर्णवे।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः॥
(अथर्व० १३।२।२)

अर्थ—(प्रज्ञानां दिशाम्-अर्चिषा स्वरयन्तम्) दिश्ज्ञान की साधनभूत दिशाओं को अपनी ज्योति से प्रेरित करने वाले या 'दिशां प्रज्ञानं' दिशाओं की पहिचान को अपनी ज्योति से बताने वाले (सुपक्षम्-अर्णवे-आशु पतयन्तम्) उत्तम किरण रूप पक्षों वाले आकाश में तुरन्त प्राप्तशील-व्याप्तिशील (भुवनस्य गोपां सूर्यं स्तवाम) भुवन के रक्षक सूर्य का स्तवन गुण वर्णन करें (यः-रश्मिभिः सर्वाः-दिशाः-आभाति) जो किरणों से सब दिशाओं को आभासित करता दर्शाता है।

इस मन्त्र में दिशाओं की प्रेरणा एवं पहिचान ज्ञान सूर्य द्वारा होने तथा किरणों द्वारा दिशाओं को आभासित करने का वर्णन स्पष्ट है।

सूर्य किरणों से दिन रात की प्रवृत्ति—

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।
(ऋ० १।९२।१)

---

* प्रज्ञानमिति क्वचित् पाठः।

इस मन्त्र में कहा है कि जब ये उषाएं (उष्ण किरणें) लालिमा को फैंकती हैं तो फिर 'रजसः पूर्वे अर्धे' पृथिवी आदि लोक के† पूर्व के आधे भाग में अर्थात् सामने के आधे भाग में 'भानुम्-अञ्जते' दिन को प्रकट करती हैं "भानुः-अहर्नाम" (निघ० १।६)

यहां स्पष्ट है कि सूर्य किरणें पृथिवी आदि गोल के सामने-वाले आधे भाग पर दिन को प्रकट करती हैं साथ में 'पूर्वे अर्धे' पूर्व के आधे भाग इस कथन से पृथिवीगोल है यह भी वेद का आशय स्पष्ट है अन्यथा 'पूर्वे अर्धे' पहिले आधे भाग या सामने के आधे भाग के कहने का कोई प्रयोजन नहीं है। उक्त मन्त्र के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण का कथन पढ़ने योग्य है "स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवावस्तात्कुरुतेऽहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रिमेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं पश्चात्।" (ऐ० ब्रा० ३।४।६) अर्थात् 'यह सूर्य' न कभी अस्त होता है और न कभी उदय, इसे अस्त हुआ जो माना जाता है वह दिन का अन्त करके पृथिवी की दूसरी ओर हो जाता है, रात्रि इधर कर देता है दिन पहली ओर तथा इसे प्रातःकाल उदय हुआ जो माना जाता है वह रात्रि का अन्त करके पृथिवी के इस ओर हो जाता है दिन उधर कर देता है।'

† "इमे वै लोकाः रजांसि" ॥ (श ६ ३।१।१८)

इस प्रकार सूर्य एवं सूर्य किरणों से दिन की उत्पत्ति होती है। दिन से मास और मास स वर्ष बनता है।

सूर्यग्रहण—

चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर पश्चिम से पूर्व को घूमता हुआ मास में एक बार सूर्य की दिशा में आता है, उस दिशा में पहुंचकर वह दीखना बन्द होजाता है उस तिथि को अमावस्या कहते हैं। फिर जिस अमावस्या में चन्द्रमा इस प्रकार आजावे जब कि वह सूर्य और पृथिवी के बीच में गति करता हुआ सूर्य का आच्छादक बनकर सूर्यप्रकाश को पृथिवी तक न पहुंचने दे किन्तु मेघ के सदृश अपनी छाया को पृथिवी पृष्ट पर डाले बस इस ही घटना का नाम सूर्यग्रहण है। सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रन्थों में कहा भी है "छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत्।" (सूर्यसिद्धान्त ४। ६) अर्थात् सूर्य का छादक चन्द्रमा उसके नीचे मेघ के सदृश आजाता है। तथा "छादयति शशी सूर्यं शशिनं च भूच्छाया।" (आर्ष सिद्धान्त। ३७) अर्थात् चन्द्रमा सूर्य को आच्छादित करता है और चन्द्रमा को पृथिवीछाया ढकती है।

वेद में सूर्यग्रहण का वर्णन है, प्रथम ऋग्वेद मण्डल ५ सूक्त ४० में आए सूर्यग्रहण के वर्णन को देते हैं।

यत्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥ ५॥

अर्थ—(सूर्य यत स्वर्भानुः-आसुरः-त्वा तमसा-अविध्यत्) हे

सूर्य ! स्वर्भानु नामक मेघ सदृश आच्छादक ने † तुझे अन्धकार से इस प्रकार बीन्धा अर्थात् ढक दिया (यथा भुवनानि-अदीधयुः- अक्षेत्रविद् मुग्धः) जैसे-जिस से नक्षत्र तारे चमक उठे‡ और क्षेत्रविद्या-ज्योतिष्-विद्या का न जानने वाला§ मुग्ध होगया अचम्भे में पड़ गया।

मन्त्र में 'स्वर्भानु' शब्द सूर्य के छादक राहु के लिये आया है, ज्योतिष् ग्रन्थों में भी सूर्य ग्रहण करने वाले छादक राहु को स्वर्भानु कहा है 'स्वर्भानोर्वेदतर्काष्टद्वशैलार्थसकुजरः" (सूर्यसिद्धान्त १२। २६) वाल्मीकि रामायण में भी सूर्यग्रहण करनेवाले छादक राहु को स्वर्भानु नाम दिया है "अभ्यधावत काकुत्स्थं स्वर्भानुरिव भास्करम्" (वाल्मीकि रा० युद्ध का० सर्ग १०२। ३) अर्थात् राम के प्रति रावण ऐसा दौड़ा जैसे सूर्य के प्रति स्वर्भानु।

स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः॥ ६ ॥

---

† "असुरः- मेघनाम" (निघं० १। १०) असुर इव-इति-आसुरः- इवार्थे छान्दसोऽण् "अहवै देवा आश्रयन्त रात्रीमसुराः" (ऐ० ४। ५) असुर रात्रि को लक्ष्य करते हैं अतः उससे सम्बन्ध रखने वाला रात्रि को करने वाला आसुर हुआ।

‡ "दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः" (अदादि०)

§ ग्रहणां क्षेत्राणि" (ज्यो० त०)
"जीवार्किभानुजेज्यानां क्षेत्राणि स्युरजादयः" (ज्यो० त०)



सूर्य ग्रहण

अर्थ-(इन्द्र अध यत्-दिवः-अधः-वर्तमानाः- मायाः-अत्रिः-अवाहन्) हे सूर्य ! फिर द्युलोक के इधर वर्तमान स्वर्भानु नामक छादक राहु की मायाओं प्रभावों को अत्रि ने अर्थात् यहां ही तृतीय लोक का साक्षात् करने वाले दूरदर्शी विद्वान् ने† हटा दिया। उस अत्रि 'द्युलोकदर्शी' नक्षत्रदर्शी दूरदर्शी ज्योतिषी विद्वान् ने (अपव्रतेन तमसा गूढं सूर्यं तुरीयेण ब्रह्मणा-अविन्दत्) कर्मकलापनाशक‡ अन्धकार से गूढ हुए-ढके हुए तुम सूर्य को 'तुरीय ब्रह्म' नामक दूरवीक्षण यन्त्र से प्राप्त किया।

यह मन्त्र बहुत रहस्यमय है इस में सर्वसूर्यग्रहण के समय सूर्य के छादक से बाहर सूर्य के चारों ओर के भाग को 'तुरीय-ब्रह्म' नामक दूरवीक्षण यन्त्र (Telescope) के द्वारा देखने का वर्णन है, इस प्रकार देखने से सूर्य का बाह्य भाग मुकुट रूप में उस्रिया नामक किरणप्रसार एवं किसी किसी वह्निज्वालालाट को देखा जा सकता है ऐसा स्पष्ट हुआ। दूरवीक्षण से उस समय काले मण्डल से बाहर चारों ओर सूर्य का भाग प्रकाशात्मक मुकुट रूप में दिखाई पड़ता है इसे पाश्चात्य ज्योतिषी कारोना (Carona) नाम से कहते हैं जो किरण शब्द का रूपान्तर है। 'ताण्ड्यमहा ब्राह्मण' में लिखा है कि 'स्वर्भानु नामक मेघवत् छादक राहु ने सूर्य को अन्धकार से ढक लिया विद्वानों ने दिवाकीर्त्यों दिन को प्रसिद्ध करने वाले भागों से उसे हटाया किरणों

† "अत्त वै तृतीयमृच्छतेत्यूचुस्तस्मादत्रिः" (निरुक्त। ३। १७)

‡ "व्रतं कर्मनाम" (निघं० २। १)

दिन प्रसिद्ध करने वाली हैं इन्हीं से सूर्य का ग्रहणकाल में साक्षात करते हैं $। मन्त्र में 'तुरीय ब्रह्म' दूरवीक्षण यन्त्र का वर्णन है 'तुर्यगोल (तुरीय यन्त्र)' नामक ज्योतिष् में उपयोग का यन्त्र है।

मा मामियं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा निगारीत्।
त्वं मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा॥७॥

अर्थ—(अत्रे द्रुग्धः-इमं मां तव सन्तं भियसा-इरस्या मा निगारीत्) हे अत्रि-द्युलोक के दर्शक नक्षत्रदर्शी! यह द्रोही स्वर्भानु नामक छादक इस तेरे प्रिय मुझ को भय से-भय देने से ईर्ष्या या अन्नेच्छा से निगल नहीं सकता (त्वं मित्रः-सत्यराधाः-वरुणः-च राजा-असि) ओ सत्यसाधक मित्र मेरा प्रक्षेपण धर्म और वरुण-आकर्षण धर्म विराजमान है (तौ-इह मा-अवतम्) ये दोनों मेरी रक्षा करते हैं*।

स्वर्भानु नामक छादक राहु सूर्य का कुछ नहीं बिगाड़ सका वह तो केवल छादक मात्र है, सूर्य के प्रक्षेपण और आकर्षण धर्म सूर्य को यथावत् बनाए रखते हैं।

$ "स्वर्भानु वां आसुर आदित्यं तमसा विध्यत्तस्य देश दिवाकीर्त्य-स्तमोपाध्नन् यद्दिवाकीर्त्यानि भवन्ति तम एवास्मादपघ्नन्ति रश्मयो वा एत आदित्यस्य दिवाकीर्त्यानि रश्मिभिरेव तदादित्य साक्षादारभन्ते।" (ताण्ड्य महा ब्राह्मण। ४। ६ १३)

* यहां पुरुषव्यत्यय है।

ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन्-कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरपमाया अधुक्षत ॥८॥

अर्थ–(ब्रह्मा-अत्रिः-ग्राव्णः-युयुजानः) खगोल के ज्ञाता वैज्ञानिक* द्युलोकदर्शी ज्योतिषी ग्रावों अर्थात् स्फटिक मणि आदि प्रस्तरों-कांचमणियों को उपयोग में लेता हुआ (कीरिणा सपर्यन्) दृष्टि फैंकने के नालसाधन के द्वारा† उन्हें उपयुक्त करता हुआ (देवान् नमसा-उपशिक्षन्) द्युस्थान के सूर्य आदि पिण्डों को‡ नमन

* इस मन्त्र में 'ब्रह्मा' शब्द खगोलवेत्ता ज्योतिषी के लिये आया है जैसे ऋग्वेद में अन्यत्र यह प्रयोग है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न-तस्याश्नाति कश्चन ॥
(ऋ० १०। ८५। ३)

'पीने वाला सोम उसे मानता है जिस ओषधि को पीसते हैं, परन्तु जिस चन्द्रमारूप सोम को खगोलवेत्ता ज्योतिषी जानते हैं उसे कोई खा ही नहीं सकता।' यहां मन्त्र के उत्तरार्ध में सोम चन्द्रमा के लिये आया है, निरुक्त में भी कहा है "सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं" (निरुक्त ११। ५) चन्द्रमा के जानने वाले को ब्रह्मा कहा है अतः प्रस्तुत सूर्य ग्रहण वाले 'ग्राव्णो ब्रह्मा' मन्त्र में ब्रह्मा शब्द ज्योतिषी के लिये आया है।

† "कॄ विक्षेपे" (अदादि०)

‡ "देवो…द्युस्थानो भवतीति वा" (निरुक्त० १७। १५)

से दृष्टि प्रेरक साधन यन्त्र के झुकाव से¶ शिक्षा लेता हुआ—ज्ञान करता हुआ—लक्षित करता हुआ (स्वर्भानोः-माया-अपधुक्षत) स्वर्भानु नामक छादक राहु के प्रभाओं को हटा देता है (दिवि सूर्यस्य चक्षुः-आधात्) द्युलोक में वर्तमान सूर्य की चक्षु प्रकाशरश्मिसमूह को प्राप्त करता है।

इस मन्त्र में स्फटिक कांच आदि का दृष्टि प्रेरक यन्त्र बना ग्रहों को देखने का वर्णन है और वैज्ञानिक ज्योतिषी के द्वारा उसका उपयोग किया जाना और उस छादक से भिन्न सूर्यभाग की ज्योति को देखने खोज करने का वर्णन है।

य वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्न ह्यन्ये अशक्नुवन्॥

अर्थ—(स्वर्भानुः-आसुरः-यं वै सूर्यं तमसा-अविध्यत्) स्वर्भानु नामक मेघसदृश छादक राहु ने जिस ही सूर्य को अन्धकार से छाया (तम्-अत्रयः- अन्वविन्दन्) उसे अत्रिजन अर्थात् द्युलोक के साक्षात् करने वाले ज्योतिषी विद्वान् ही जान सकते हैं (अन्ये न हि-अशक्नुवन्) अन्य लोग—ज्योतिर्विद्या से शून्य जन नहीं जान सकते हैं।

¶ दूरवीक्षण यन्त्र का ग्रह की ओर झुकने का वेद में व्यवहार किया है आश्चर्य है ऐसा ही व्यवहार आजकल की भाषा में भी देखते हैं, "जब बड़े-बड़े दूरदर्शक चन्द्रमा की ओर झुकेंगे तब शायद कुछ और पता चलेगा" (सौर परिवार। पृ० ४४६)

सूर्य ग्रहण की वास्तविकता को ज्योतिर्विद्यावेत्ता ही जान सकते हैं अन्य साधारण नहीं वे तो इसे देख कर अचम्भे में पड़ जाते हैं। यहाँ सर्वसूर्यग्रहण उपलक्षण मात्र है सूर्य के एक-देशी ग्रहण या अल्पग्रहण भी होते हैं। तथा वलय ग्रहण या कुण्डल ग्रहण भी कभी-कभी होते हैं। जब पृथिवी से चन्द्रमा दूर हो तथा उसकी छाया सूच्याकार होकर पृथिवी पर पड़ रही हो परन्तु सूर्य का पूर्णाच्छादक न बना हो केवल सूर्य मण्डल के बीच में चन्द्रबिम्ब दिखलाई पड़ता हो तब कुण्डलाकार सूर्य-ग्रहण होता है।

उक्त ग्रहणों के सम्बन्ध में अथर्ववेद में भी संकेत है—

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।

(अथर्व० १६।६।१०)

'चन्द्रमा के ग्रहण सुखदायक हों राहु के साथ सूर्य भी सुख-दायक हो।' राहु सूर्यग्रहण करने वाले सूर्य के छादक का नाम है पर वेद की शैली ऐसी प्रतीत होती है कि सर्वसूर्यग्रहण का नाम स्वर्भानु है क्योंकि सूर्य का सर्वग्रास होने से 'स्वः' द्युलोक में 'भानु' अर्थात् सूर्य जिस छादक से होता है वह सर्वसूर्य-ग्रहण 'स्वर्भानु' कहलाता है। शेष सब प्रकार के सूर्यग्रहण राहु नाम से कहे जाते हैं।

सूर्य के नौ ग्रह हैं:—

इस हमारे सूर्य अथवा सौरमण्डल के कितने ग्रह हैं जो कि सूर्य की परिक्रमा करते हैं यह बात निम्न मन्त्र में देखें—

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ।
तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥
एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।

(अथर्व० १३ । ४ । ६, १०, १३)

'महेन्द्र अर्थात सूर्य जब किरणों से पूर्ण प्रकाशमान हो आता है तब नभोमण्डल आकाशमण्डल एवं नक्षत्रमण्डल किरणों से भर जाता एवं चमक उठता है। उस सूर्य के नौ कोश ग्रहरूप नौ अण्डे* नौ प्रकार से पृथक्-पृथक् नौ कक्षावृत्तों में धारित हुए हैं देव द्युलोक के प्रकाशमान ग्रहगोले इस सूर्य में एक आश्रय लेते हैं। वे नौ ग्रह हैं पृथिवी या चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, यूरेनस, नेपच्यून, और अज्ञात ग्रह। अस्तु। अब इन ग्रहों का वर्णन आगे देखें।

———

* "कोशः अण्डम्" (शब्द रत्नावली)

चन्द्रमा

सूर्य के पश्चात् आकाशीय पिण्डों समस्त ग्रह उपग्रहों में चन्द्रमा बड़े आकार का हमारे दृष्टिपथ होता है। सूर्य अपने ग्रहण काल को छोड़कर सदा एक आकार का दिखलाई पड़ता है परन्तु "चन्द्रमा जायते पुनः" (यजु० २३।१०, ४६) चन्द्रमा अपने आकार को पुनः पुनः प्राप्त होता है, वह कभी अत्यन्त सूक्ष्म कभी उससे बड़ा और कभी पूर्णरूप में गोलाकार कभी क्षीण होता हुआ दिखलाई पड़ता है यह इस प्रकार भिन्न-भिन्न आकारों में परिवर्तित होता हुआ घटता-बढ़ता हुआ मास में

एक वार पूरा और एक वार विलुप्त हो जाता है इस प्रकार मास का निर्माण करता है, वेद में कहा भी है—

अरुणो मासकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी॥

(ऋ० १।१०५।१८)

यह मन्त्र चन्द्रमा के सम्बन्ध में है यहाँ निरुक्त में कहा है कि:—"अरुण आरोचमानो मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमा वृकः पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणमभिजिहीते निचाय्य येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमास्तक्ष्णुवन्निव पृष्ठरोगी" (निरुक्त ५।२१)

अर्थात् आकाश में सर्वत्र प्रकाशमान चन्द्रमा मासों और अर्धमासों का बनाने वाला अपने कक्षामार्ग से गति करते हुए नक्षत्रगण को देखता और जिस जिस नक्षत्र से युक्त होने वाला होता है उस उस को लक्ष्य कर उदित होता है जैसे झुकी हुई पृष्ठ का बढ़ई काष्ठ को चीरते हुए हो जाता है ऐसे झुकाव करता जाता है।

चन्द्रमा न केवल नक्षत्रगण की गति पर ही आश्रित है किन्तु स्वयं भी अपने कक्षावृत्त में आकाश में गति करता है—

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।

(ऋ० १।१०५।१; यजु० २३।६०; अथर्व १८।४।८९)

अर्थात् चन्द्रमा अन्तरिक्ष में ऐसा दौड़ता है जैसे आकाश में पक्षी। चन्द्रमा अपने कक्षावृत्त का चक्र अत्यन्त शीघ्र लगा

लेता है अत एव अन्यत्र चन्द्रमा को 'गोतम' नाम भी अत्यन्त गतिमान् होने के कारण दिया है।

चन्द्रमा में प्रकाश सूर्य का है—

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व० ।

(यजु० १८ । ४०)

इस मन्त्र को निरुक्त में 'गोः' सूर्यरश्मि को कहते हैं यह प्रमाणित करने के लिये दिया है जिससे चन्द्रमा प्रकाशित होता है "अथाप्येको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते–आदित्यतोऽस्य दीप्ति र्भवति–सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः·······सोऽपि गौरुच्यते—अत्राह गोरमन्वत–इति तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः" (निरुक्त २ । ६) † एक रश्मि चन्द्रमा के प्रति दीप्त है सूर्य से चन्द्रमा की दीप्ति होती है ऐसा कहा है।

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥

(ऋ० १ । ८४ । १५)

इस मन्त्र पर निरुक्त में लिखा है "अत्र ह गोः सममंसतादित्यरश्मयः स्वं नापागोच्यमपचितमपागतमपिहितमन्तर्हितं वामुत्र चन्द्रमसो गृहे", (निरुक्त ४ । २५) निरुक्त के प्रमाणानुसार मन्त्र का अर्थ यह है—

अर्थ—(अत्र चन्द्रमसः–गृहे) इस चन्द्रमा के घर में–इस

† उक्त मन्त्र और निरुक्त वचन की व्याख्या हम पीछे 'सूर्यप्रकरण' में सूर्य से चन्द्रमा प्रकाशित होता है इस विषय में कह आए हैं वहां देखें।

चन्द्रमण्डल में (त्वष्टुः-गोः-अपीच्यं नाम ह इत्था-अमन्वत) सूर्य की एक रश्मि के अन्तर्निहित ‡ झुकाव को निश्चय शेष अन्य रश्मियों ने ठीक मान लिया-पुष्टि दी।

चन्द्रमा में क्या है—

चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित होता है इस में किसी को सन्देह नहीं है परन्तु वह क्या है और उसका प्रकाश हमारे तक प्रतिफलित होकर कैसे पहुंचता है इस में पाश्चात्य (योरोपियन) और भारतीय ज्योतिषियों का मतभेद है। पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि चन्द्रमा में पर्वत हैं ज्वालामुखमण्डल या ज्वालामुख भँवर अधिक हैं जिन में से पत्थर आदि पदार्थ पिघल पिघल कर ज्वालाधाराओं के रूप में निकल रहे हैं परन्तु भारतीय विद्वानों का कथन इसके विपरीत है. चन्द्रमा में पर्वत हैं इस में तो मतभेद नहीं है। 'मन्त्रब्राह्मण' में लिखा है "यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्" (मं० १ । ५ । १३) अर्थात् चन्द्रमा में जो कृष्णभाग है वह पृथिवी का हृदय है, पृथिवी का हृदय—पृथिवी का वक्षःस्थल पर्वतों को माना जाता है अतःचन्द्रमा में पर्वत हैं यह तो अविरुद्ध बात है। परन्तु भारतीय विद्वान् चन्द्रमा में ज्वालामुख मण्डलों को नहीं मानते हैं 'हिमश्रथ' हिमपिण्ड (बरफीला गोला) मानते हैं उनका कहना है कि जैसे सूर्य अग्नि का पिण्ड अग्निमय और उष्णरश्मि है एवं उसके विपरीत चन्द्रमा

‡ "अपीच्यम्—अन्तर्हितम्" (निघं० ३ । २५)

हिम (जल) का पिण्ड जलमय हिमरश्मि है । इस विषय में प्रमाण—

तमा स्थितिविमर्दार्धं ग्रासाद्यं तु यथोदितम्।
प्रमाणं वलनाभीष्ट ग्रासादि हिमरश्मिवत् ॥
(सूर्य सिद्धान्त । सूर्यग्रहण । १३)

यहां चन्द्रमा को 'हिमरश्मि' कहा है।

चन्द्रो जलमर्कोऽग्निमृद्भूः ।
(आर्यभट्टीय ।)

इस वचन में चन्द्रमा को जल अर्थात् जलमय कहा है साथ में सूर्य को अग्नि अर्थात अग्नि पिण्ड और पृथिवी को मृत् अर्थात् मृन्मय कहा है ।

सूर्य एवाग्नेयः । चन्द्रमाः सौम्यो० ।
(श० ६ । ३ । २४)

अर्थात् सूर्य अग्नि धर्म वाला है और चन्द्रमा उसके विपरीत सौम्य धर्मवाला-जलधर्मवाला है ।

सायणाचार्य ने भी पूर्वोक्त 'अत्राह गोरमन्वत०' मन्त्र के भाष्य में कहा है—

उदकमये स्वच्छे चन्द्रबिम्बे सूर्यकिरणाः प्रतिफलन्ति।
(ऋ० १ । ८४ । १५ सायणः)

अर्थात् जलमय स्वच्छ चन्द्रबिम्ब में सूर्य किरणें प्रतिफलित होती हैं ।

चन्द्रमा में ज्वालामुख हैं या हिमसंहति और जलस्रोतोमण्डल यह तो न किसी ने देखा और न देख ही सकता है केवल अनुमान ही लगाया जाता है। हाँ, यह तो अवश्य देखने में आता है कि सूर्य आँखों में खटकता है चन्द्रमा आँखों को प्रिय लगता है, सूर्य गरमी बरसाता है, चन्द्रमा ठण्डक पहुंचाता है ओस बरसाता है। सूर्य की ओर पृथिवी की अग्निलाटों दीप शिखा आदि ज्वालाओं की प्रवृत्ति होती है चन्द्रमा की ओर जलराशि समुद्र का स्तर उठजाता है, जैसे जैसे चन्द्रमा बढ़ता है तैसे तैसे समुद्रजल में ज्वार भाटा और ऊपर उछाल बढ़जाता है।

चन्द्रमा में पृथिवी का पर्वतरूप हृदय रखा है यह कहा गया है पृथिवीस्थ समुद्रजल और चन्द्रमा का आकर्षण होता है, इन बातों से चन्द्रमा का पृथिवी से सम्बन्ध अवश्य प्रतीत होता है यदि इससे चन्द्रमा को पृथिवी से अलग हुआ माना जावे † तो चन्द्रमा को पृथिवी के चारों ओर घूमना ही चाहिये।

चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर घूमता है इस बात का संकेत–

शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्।

(ऋ० ६। १०२। १. साम० पू० ६। २। ८। ५)

इस मन्त्र में सोम अर्थात चन्द्रमा को पृथिवी का शिशु कहा

---

† "सूर्य के आकर्षण से उठे ज्वार भाटा के कारण पृथिवी का एक भाग निकल पड़ा होगा और वही चन्द्रमा होगया होगा'।

(सौर परिवार। पृष्ठ० ५५६)

है और उससे 'ऋतस्य दीधितिम जल की ‡ किरण प्रेरित होना' दर्शाया है।

चन्द्रग्रहण—

सूर्यग्रहण की भांति चन्द्रग्रहण का होना वेद में दर्शाया है—

शंनो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।

(अथर्व० १६ । ६ । १०)

अर्थ—(चान्द्रमसाः-ग्रहाः-नः-शम् राहुणा-आदित्यः-च शम) हमारे लिये चन्द्रमा के ग्रहण सुखदायक हों तथा राहु अर्थात् सूर्यग्रहण के साथ सूर्य भी सुखदायक हो।

चन्द्रमा और सूर्य के बीच में समरेखा पर पृथिवी के आजाने से सूर्य के प्रकाश को पृथिवी चन्द्रमा पर पहुंचने से रोकती है तब पृथिवी की छाया— भूच्छाया चन्द्रमा पर पड़ने से चन्द्रग्रहण होता है। चन्द्रग्रहण पूर्णिमा को होता है सूर्य पृथिवी चन्द्रमा तीनों समान सूत्र में हों तथा पृथिवी मध्य में हो तब यह स्थिति पूर्णिमा को ही होसकती है, पूर्णिमा वाले दिन सूर्य और चन्द्रमा की दिशा विरुद्ध तथा राशिचक्र में परस्पर छः राशि के अन्तर पर होते हैं। अस्तु।

---

‡ "ऋतमुदक नाम" (निघं० २ । ६)

शुक्र और बुध

चन्द्रमा के पश्चात् आकाशीय पिण्डों में चमकीला और बड़ा शुक्र ग्रह है, जोकि कभी रात्रि के पिछले भाग प्रातः काल में पूर्व दिशा की ओर सूर्योदय से लगभग तीन घण्टे पहिले और सूर्योदय होने तक दिखलाई पड़ता है और किन्हीं दिनों में रात्रि के पूर्वभाग में पश्चिम की ओर सूर्यास्त के पश्चात् से ही लगभग तीन घण्टे तक दिखलाई पड़ता है। वेद में शुक्र के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र हैं जो शुक्र नाम से तथा ज्यतष-शास्त्रो में दिये उसके पर्यायनामों से वर्णन हैं, कुछ मन्त्र यहां देते हैं।

शुक्र नाम से शुक्रग्रह का वर्णन—

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन्-दक्षिणया पिपर्तु ।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुः पातु सविता भगश्च ॥
(अथर्व० ६ । ५३ । १)

इस मन्त्र में 'द्यौः, पृथिवी, शुक्र, सोम, अग्नि, वायु, सविता, भग' नाम आए हैं ये सब आकाशीय पदार्थ होने से यहां शुक्र आकाशीय शुक्र ग्रह के लिये आया है तथा 'अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी' में ये सब प्रत्येक स्वतन्त्र देवता कहे गये भी हैं।

काव्य, उशना, नामों से शुक्र का वर्णन—

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥
(ऋ० १ । ८३ । ५, अथर्व० २० । २५ । ५)

विश्व के नियामक प्रजापति ने ‡ सङ्गति करणों से ग्रहों के मार्गों को फैलाया फिर सूर्य को प्रकट किया, कान्तिमान् सूर्य ने जैसे ही अपनी गुप्त किरणों को प्राप्त किया तैसे ही उसकी किरणों से 'काव्यः, उशना' अर्थात् शुक्र भी चमक उठा।

ज्योतिष् ग्रन्थों में शुक्र के काव्य उशना नाम भी दिये हैं। उक्त मन्त्र से यह बात विशेष स्पष्ट होती है कि सूर्य के प्रकाश द्वारा अधिक चमकने वाला शुक्र ग्रह उसके निकट है।

वेन नाम से शुक्र का वर्णन—

‡ "अथर्वा वै प्रजापतिः" (गो० ५-१ । ४)

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमानः।
इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति ॥
(ऋ० १० । १२३ । १, यजु० ७ । १६)

यह मन्त्र निरुक्त में आया है वहां दुर्गाचार्य भाष्य में लिखा है "अयं वेनः इति भार्गवस्येयं वेनस्यार्षं शुक्रोऽनया गृह्यते" (निरुक्त १० । ३६ दुर्गः) अर्थात् 'अयं वेनः' इस ऋचा का भार्गव वेन ऋषि है शुक्र इस ऋचा से गृहीत होता है । स्मरण रहे ज्योतिष्-ग्रन्थों में 'भार्गव' भी शुक्र का नाम है अतः इस मन्त्र में शुक्र ग्रह का वर्णन है । ल्याटिन भाषा में शुक्र को वेनस् (Venus) नाम से कहते हैं जो वेद के इस 'वेनः' नाम का अनुकरण है, निरुक्त के अनुसार मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

अर्थ—(अयं ज्योतिर्जरायुः-वेनः-रजसः-विमाने पृश्निगर्भाः-चोदयत्) यह ज्योति से लिपटा हुआ शुक्र आकाश में किरणों से चमचमाते हुए वाष्पजलों को * प्रेरित करता है (इमम्-अपां-सूर्यस्य संगमे) रश्मि प्रकाशित आकाशीय वाष्पजलों और सूर्य के सङ्गम में† इसका (विप्राः शिशुं न मतिभिः-रिहन्ति) विद्वान् जन शिशु की भांति वाणियों से प्रशंसित वर्णन करते हैं‡ ।

---

* "पृश्नयः ससोज्वलवर्णाः सूर्यरश्मयः तेषां गर्भभूता अपः"
(सायणः)

† "अपां च संगमे सूर्यस्य च संगमे संगमस्थाने" (दुर्गः)

‡ "रिह कत्थने" (तुदादि०)

इस वर्णन से शुक्र सूर्य के उदय एवं अस्त के आस-पास उदय होता है या चमकता है ऐसा आशय निकला$ ।

शुक्र का 'सित' नाम से भी वर्णन ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ११२ मन्त्र ५ में आता है उसका वर्णन हम आगे 'बुध' प्रकरण में करेंगे। सूर्य सिद्धान्त में शुक्र को सित कहा है।

शुक्र को जब दूरवीक्षण यन्त्र से देखते हैं तो वह बहुत ही शुभ्र सुन्दर चमकदार दीखता है इसके शुभ्र होने के कारण ही इसका नाम 'शुक्र' और 'वेन (कान्तिमान्)' यथोचित यथा-गुणस्तथा नाम हैं साथ में दूरवीक्षण से चन्द्रमा की भांति शुक्र में भी कलाएं दिखलाई पड़ती हैं अर्थात् यह भी चन्द्रमा की भांति कलाओं द्वारा घटता बढ़ता दिखलाई पड़ता है परन्तु इसका घटना बढ़ना बहुत धीरे धीरे होता है। जब यह पृथिवी के निकट होता है तब आकार बड़ा होता है और तभी कलाएं विशेषतः धनुषाकार कलाएं दीखती हैं जब दूर चला जाता है तब छोटा दीखता है। वेद में शुक्र की कलाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट वर्णन तो नहीं है और न मूलरूपबीजरूप विद्या शास्त्र में इसका वर्णन आवश्यक है। हाँ, चन्द्रमा का जिस प्रकार चंद्रमा या सोम नाम से इंद्र द्वारा

$ "मन्त्र में 'शिशु न' शब्द भी रहस्यपूर्ण लगता है 'शिशु' अपूर्ण चन्द्रमा को कहते हैं यह 'शिशुर्महीनां' मन्त्र में चन्द्रमा प्रकरण में कह आए हैं इस से शुक्र में भी चन्द्रमा की भांति कलाएं होती हैं।

पीए जाने पुनः आप्यायमान अर्थात् बढ़ने का वर्णन है एवं शुक्र नाम से भी इन्द्र के द्वारा पीए जाने पुनः आप्यायमान होने अर्थात् बढ़ने का वर्णन अवश्य आता है* । तथा पिछले मन्त्र में "शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति' में शिशु की उपमा दी है शिशु अपूर्ण चन्द्रमा को कहते हैं यह चन्द्रमा के प्रकरण में "शिशुमेहीनां" में आया है।

बुध—

वेदों में बुध शब्द नहीं है अतः बुध नाम से किसी ग्रह का प्रतिपादन नहीं है हाँ, बुध के पर्याय नामों से वर्णन मिल सकता है विशेष वर्णन तो अधिक खोज पर निर्भर है परन्तु हम यहाँ एक आध मन्त्र बुध का पर्यायरूप में नाम वाला प्रस्तुत करते हैं

याभीरेभं निवृतं सितमद्भ्य उद्वन्दनमैरयतं स्वर्दृशे ।
याभिः कण्वं प्रसिषासन्तमावतं ताभि रू षु ऊतिभिरश्विना आगतम् ॥ (ऋ० १ । ११२ । ५)

---

* इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने ॥
(ऋ० १ । ८४ । ४)
अध श्वेतं कलशं गोभिरक्तमापिप्यानं मघवा शुक्रमन्धः ।
अध्वर्युभिः प्रयतं मध्वोअग्रमिन्द्रो मदाय प्रति धत्पिबध्यै शूरो मदाय प्रति धत्पिबध्यै ॥
(ऋ० ४ । २७ । ५)

इस मन्त्र में बुध का पर्याय 'कण्व' नाम है, बुध बुद्धिमान को कहते हैं 'कण्व' का भी अर्थ बुद्धिमान है "कण्वो मेधावी" (निघं० ३ । १५) मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

अर्थ—(अश्विना-अद्भ्यः-निवृतं रेभं वन्दनं सितं स्वर्दृशे याभिः-उदैरयतम्) हे सूर्य किरणों से उत्पन्न हुई अग्नीषोमात्मक शक्तियो ! अन्तरिक्ष से† निवृत उदयाचल से प्रकट हुए स्तोता जैसे वन्दना करते हुए‡ सित अर्थात् शुक्र ग्रह को 'स्वर्दृशे' प्रातः काल में सूर्य के दिखाने के लिये सूर्योदय की सूचना देने के लिये सायं काल द्युमण्डल को दर्शाने रात्रि के प्रकाशमण्डल को बताने के लिये जिन रक्षाओं से ऊपर प्रेरित करती हो (याभिः सिषासन्तं कण्वं प्रावतम्) जिन रक्षाओं से संभक्ति की इच्छा करते हुए जैसे 'कण्व' बुध ग्रह को प्रगति देती हो (ताभिः-ऊतिभिः ऊ सु-आगतम) उन रक्षाओं से भली प्रकार हम तक आओ ।

यहां मन्त्र में 'कण्व अर्थात् बुध ग्रह को सित अर्थात् शुक्र ग्रह के साथ ऊपर नीचे के क्रम से उदय होना कहा है । शुक्र ग्रह के सम्बन्ध में अभी हम वर्णन कर आए हैं यहां केवल यह बतलाना है कि 'सित' शुक्र ग्रह का नाम ज्योतिष ग्रन्थों में दिया है यह देखें—

सित शीघ्रस्य षट् सप्तति त्रियामाश्विखभूधराः ।
शनेर्भुजंग षट्पञ्चरसवेदनिशाकराः ॥

(सूर्यसिद्धान्त ।१।३२)

---

† 'आपोऽन्तरिक्षनाम' (निघं० १ । ३)
‡ "रेभः स्तोतृनाम" (निघं० ३ । १६)

"सितशीघ्रस्य शुक्रशीघ्रोच्चस्य"

(सिद्धान्तवागीशमाधव पुरोहितः)

उक्त सूर्यसिद्धान्त के वचन में सित शुक्र को कहा है। हम यह पीछे बतला आए हैं कि शुक्र प्रातः सूर्योदय से तीन घण्टे पूर्व तक उदयाचल या पूर्व क्षितिज से कुछ ऊंचे तक दिखाई पड़ता है एवं सायं सूर्यास्त के पीछे तीन घण्टे तक अस्ताचल या पश्चिम क्षितिज से कुछ ऊपर दिखलाई देता है। परन्तु बुध सूर्योदय से आध पौन घण्टा पूर्व ही तक पूर्व क्षितिज (उदयाचल) से मिला जैसा दिखलाई देता है एवं सायं सूर्यास्त के पीछे आधा पौन घण्टे तक पश्चिम क्षितिज (अस्ताचल) से मिला हुआ दिखलाई पड़ता है अत एव मन्त्र में 'सिषासन्तम्' अर्थात् संभक्त करता हुआ मिलने की इच्छा करता हुआ जैसा विशेषण दिया है तथा 'कण्व' नाम से यह विशेष सूचित होता है कि 'कण्व' शब्द 'कण' धातु से बना है 'अशू प्रुषि लटि कणि खटि विशिभ्यः क्वन्' उणा० १।१५१, 'कण' धातु निमीलन अर्थ में है "कण निमीलने" (चुरादि०) निमीलन करने वाला 'कण्व' हुआ सो बुध आध पौन घण्टे तक ही दीखता है शीघ्र निमीलन कर जाता है छिपजाता है यह प्रत्यक्ष ही है। इस मन्त्र में यहां 'कण्व' से बुध और 'सित' से शुक्र ग्रह का वर्णन है।

बुध ग्रह के सम्बन्ध में और विशेष देखें—

उषो ये ते प्रयामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः।
अत्राह तत्कण्व एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् ॥
(ऋ० १।४८।४)

अर्थात् हे उषा !† जो विद्वान् तेरे संचारों में अपना मन युक्त करते हैं —तेरी ओर ध्यान से देखते हैं उषा वेला के आस पास समय और उसी प्रदेश में ध्यान से देखते हैं तब जो 'अत्र-अह तत् कण्वः' इसी समय वहां ही अहो वह 'कण्वं' अर्थात् बुध ग्रह है मैंने देखा ऐसा नाम जो लेता है उन सब में वह विद्वान्-अत्यन्त बुद्धिमान है।

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि 'कण्व' अर्थात बुध ग्रह उषा के निकट क्षितिज प्रदेश तथा उस के सन्निकट काल में दिखाई पड़ता है।

बुध में भी दूरवीक्षण से चन्द्रमा की भांति कलाएं दीखती हैं।

—— –

† लोक में सूर्योदय समय से कुछ पूर्व की लालिमा को उषा कहते है, परन्तु यहां वेद में सूर्य के अस्त के समय के पश्चात् की लालिमा भी उषा अभीष्ट है।

मंगल और बृहस्पति

आकाशीय पिण्डों में शुक्रग्रह के अनन्तर अधिक चमकने-वालों और बृहदाकार ग्रहों में मङ्गल की बारी है, पूर्व प्रकरण में शुक्र के साथ बुध का वर्णन इस लिये किया गया है कि शुक्र के साथ उसका उदय लक्षित होता है। मङ्गल ताम्बे के रंग का लाल लाल जैसा चमकदार दृष्टि गोचर होता है। वेद में मङ्गल ग्रह का वर्णन निम्न प्रकार है—

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमंगलः।

(यजु० १६।६)

इस मन्त्र में 'सुमङ्गल' अर्थात् मंगल ग्रह को ताम्बे जैसा लाल और भूरे रंग से मिश्रित है यह कहा है । ज्योतिष्-ग्रन्थों में मङ्गल को लोहिताङ्ग क्रूरदृक्, क्रूर, रक्तगौर मिश्रितवर्णवाला कहा है † । योरोपियन ज्योतिषियों ने इसे समरदेवता मार्स (Mars) का नाम दिया हुआ है । उनका इस प्रकार नामकरण करना पूर्वोक्त मङ्गल के पर्याय क्रूर, क्रूरदृक् नामों का ठीक अनुवाद है । इसे रुद्र ग्रह भी कह सकते हैं, रुद्र को पशुओं का स्वामी कहा जाता है "रुद्र पशूनां पते" (तै० ३ । ११ । ४ । २) । इसी प्रकार मङ्गल का भी 'चतुष्पदानां प्रभुः' नाम दिया गया है । वेद में इस रुद्ररूप मङ्गल को "असौ यस्ताम्रो" मन्त्र से पूर्व "अहींश्च सर्वान् जम्भयन्-सर्वाश्च यातुधान्यो०" (यजु० १६ । ५) इस मन्त्र में सब सर्पों और यातना देने वाली प्राणी जातियों को नष्ट करता है ऐसा कहा है । इसी प्रकार मङ्गलग्रह को भी 'बृहत्संहिता' नामक ज्योतिष् ग्रन्थ में दंष्ट्रिव्यालमृगेभ्यः करोति पीडां०" (बृहत्संहिता । मङ्गलचारः ६ । ३) सर्पों और फाडखाने वाले जानवरों को पीडा पहुंचाता है ऐसा कहा है ।

मङ्गल ग्रह जब सूर्य के षड्भान्तर पर (छः राशि के अन्तर पर—सामने की दिशा में) होता है तब यह बड़ा और विशेष

† "लोहिताङ्गः क्रूरदृक् क्रूरः रक्तगौरमिश्रितवर्णः" इति ज्यौतिषतत्त्वम् ।

चमकदार दिखाई पड़ता है। इसके अन्दर कुछ योरोपियन ज्योतिषी नहरें खुदी हुई बतलाते हैं और कई कहते हैं नहरें नहीं हैं किन्तु जो नहरों की भांति रेखाएं प्रतीत होती हैं वे वास्तव में अलग अलग कुछ चिह्न क्रमशः हैं जो कि बहुत बड़े दूरवीक्षणों से देखे गये हैं वे ही क्रमशः चिह्न छोटे दूरवीक्षणों से परस्पर मिले हुए नहरों सदृश रेखाओं के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। जैसे आकाश गङ्गा धुन्धली एक वाष्पधारा दीखती है पर वह वाष्पधारा नहीं किन्तु अलग अलग तारे हैं।

बृहस्पति—

मङ्गल जितने बड़े आकार का मङ्गल की भांति सर्वत्र आकाश में विचरता हुआ परन्तु मङ्गल जैसा ताम्बे सदृश लालरंग का नहीं प्रत्युत शुभ्र गौरनीलिमा लिये हुए बृहस्पति ग्रह दृष्टिगोचर होता है। यह 'ग्रह यथा नाम तथा गुणः' है इसका आकार पृथिवी से कई गुणा बड़ा है। वेद में बृहस्पति के सम्बन्ध में कहा है—

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण विसप्तरश्मिरधमत्तमांसि ॥

(ऋ० ४। ५०। ४, अथर्व० २०। ८८। ४)

अर्थात् 'महो ज्योतिषः परमे व्योमन्' सूर्यरूप महान् ज्योतिः के अधिकृत विस्तृत आकाश में प्रथम प्रकट होते हुए बृहस्पति ने बहुरूप वाला सप्तमुखी तथा सात किरणों वाला होकर अन्धकार को हटाया था।

इस मन्त्र में बृहस्पति की प्रकटता सौरमण्डल में बतलाई है उस समय वह सप्तमुखवाला सात किन्हीं गुहाओं से युक्त या सात दरारों वाला हुआ, उन्हीं सात गुहाओं से सात किरणें छोड़ते हुए अन्धकार को दूर करता हुआ प्रकट हुआ ऐसा निर्देश है। इस मन्त्र पर 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में लिखा है "बृहस्पतिः प्रथमं जायमानः तिष्यं नक्षत्रमभि संबभूव" (तै० ब्रा० ३। १। १। ५) अर्थात्-'बृहस्पति प्रथम उत्पन्न होते हुए तिष्य-पुष्य नक्षत्र पर प्रकट हुआ ‡'।

तथा—

आवेधसं नीलपृष्ठं बृहन्तं बृहस्पतिं सदने सादयध्वम्।
सादद्योनिं दम आदीदिवांसं हिरण्यवर्णमरुषं सपेम।
(ऋ० ५। ४३। १२)

इस मन्त्र में बृहस्पति को 'नीलपृष्ठ, बृहन्, हिरण्यवर्ण, अरुष' कहा है इस से बृहस्पति का नीलिमा लिये हुए शुभ्र और गौरवर्ण स्पष्ट होता है।

दूरवीक्षण यन्त्र से इसके चार उपग्रह तो स्पष्ट उसके चारों ओर घूमते हुए देखे गये हैं वैसे तो इसके ६ उपग्रह कहे जाते हैं, पांचवां बहुत बड़े दूरवीक्षण द्वारा कठिनता से देखने में आता है शेष चार उपग्रह अभी तक तो किसी भी दूरवीक्षण से देखने में आए ही नहीं किन्तु उन के फ़ोटो ही दूरवीक्षण से आ पाते हैं ऐसा कहा जाता है।

‡ इसी कारण लोक में अभी भी गुरुपुष्ययोग की प्रशंसा है।

शनि आदि

शनि आकाशीय पिण्डों में एक अद्भुत ग्रह है, कुछ मैले पीले (फीके पीले) रंग का आकाश में कठिनाई से पहिचान में आने वाला ग्रह है, इस के अन्दर यह अद्भुत बात है कि इस के चारों ओर कुण्डल (घेरा) पड़ा रहता है। पीछे बतला आए हैं कि शुभ्ररंग वाला होने से शुक्र का सित नाम है एवं अशुभ्र (फीके रंगवाला) होने से शनि का असित नाम है, शनि को असित कहते भी हैं "असितः शनि ग्रहः" (इति हलायुधः)। इस के चारों ओर कुण्डल (घेरा) होने से इसे सर्प का रूपक दिया

आता है, असित कृष्ण सर्प को कहते हैं अत एव शनि ग्रह का आकार कृष्णसर्प जैसा होने से असित कहना अत्युपयुक्त है अत एव वेद में इस का वर्णन असित नाम से आता है—

अभूदु भा उ अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्यः ।

व्याख्यज्जिह्वयासितः ॥

(ऋ० १।४६।१०)

अर्थ—(सूर्यः— अंशवे हिरण्यं प्रति भाः-उ- अभूत्-उ) जब सूर्य उत्पन्न होते समय किरण फैलाने के लिए हिरण्य जैसा सुनहरी तेजवाला देदीप्यमान बना तब (असितः-जिह्वया व्यख्यत्) शनि ग्रह जिह्वा के साथ प्रकट हुआ ।

इस मन्त्र में शनि ग्रह की प्रकटता सूर्य से बतलाई है अत एव शनि को ज्योतिष् ग्रन्थों में सौरि, सूर्यपुत्र कहा है । मन्त्र में शनि को सर्प का रूपक दिया है ।

तथा—

ता इन्न्वेव समना समानीरमीतवर्णा उषसश्चरन्ति ।

गूहन्तीरभ्वमसितं रुशद्भिः शुक्रास्तनूभिः शुचयो रुचानाः ॥

(ऋ० ४।५१।९)

अर्थ—(ताः-इत्-नु शुक्राः शुचयः-रुचानाः समानीः-अमीत-वर्णाः- उषसः) ये शुभ्र शुद्ध रुचिर समानपंक्तिवाली अहिंसित वर्णवाली चमकीली धाराएं (रुशद्भिः-तनूभिः-अभ्वम्-असितं

गृहन्तीः समन्ता चरन्ति) रुपेली † आवरणस्तरों से असित अर्थात् शनि ग्रह को संवरण करती हुई-घेरती हुई ‡ विचरती हैं ।

इस मन्त्र में कहा गया है कि स्थिर रंगवाली समानपंक्ति में हुई चमकीली धाराएं शनिग्रह का अपनी आवरण कारक स्तरों से घेरा कर के घूमती हैं अर्थात् शनि को बीच में लेकर घूमती हैं । इन चमकीली धाराओं के सूक्ष्म अवयव हैं यह भी 'रुशद्भिः तनूभिः' से विदित होता है । मानो यह कहीं अधिक न गति कर सके इस प्रकार घेरे हुए हैं । मन्दगामी होने से इस का नाम शनैश्चर भी है । शनि की उक्त चमकीली धाराओं के तीन भाग हैं जो 'शुक्राः, शुचयः, रुचानाः' नामों से कही गई हैं । 'शुक्राः' शुभ्र चमकदार, 'शुचयः' शुद्ध पारदर्शक और 'रुचानाः' फीकी । इन से बने कुण्डल (घेरे) के भी तीन वलय अर्थात् लपेट होजाते हैं । शुद्ध पारदर्शक वलय से पार के उपग्रह भी इसके दीख जाते हैं । शनि के भी नौ उपग्रह कहे जाते हैं ।

अन्य ग्रह—

आधुनिक ज्योतिषियों ने यूरेनस Uranus नेपच्यून Neptune और अज्ञात ग्रहों का पता लगाया है । इस में सन्देह नहीं इन ग्रहों का पता लगाना एक यन्त्रसाध्य विषय है, यूरेनस विना यन्त्र के तीव्र दृष्टि आँख से देखा जा सकता है, नेपच्यून आँख से नहीं केवल दूरवीक्षण यन्त्र से ही देखा

† "रुशदिति वर्णनाम" (निघं० ३ । १२)

‡ "गुहू संवरणे" (भ्वादिः)

आता है, तीसरे अज्ञात ग्रह का फोटो ही दूरवीक्षण यन्त्र से आ पाता है। नवीन भारतीय ज्योतिषियों ने इन की खोज नहीं की यह स्पष्ट है, अतिप्राचीन भारतीय ज्योतिषी इधर चले थे या नहीं अथवा उन्होंने इनमें से किसी का ज्ञान भ्ग्न कल्पना सम्भव है की हो क्योंकि वेद में ऐसा कुछ वर्णन आता है जिस से उक्त तीन ग्रहों की कल्पना उठ सकती है। यूरेनस और नेपच्यून के नाम हिन्दी में कई विद्वानों ने भिन्न भिन्न दिये हैं, किसी ने वरुण और वारुणी किसी ने अरुण और वरुण किसी ने प्रजापति और वरुण तथा किसी ने मित्र और वरुण नाम दिये हैं परन्तु वेद में इन दो के ही नहीं अपितु इन तीनों के नाम मिलते हैं। यूरेनस का नाम अर्यमन् (अर्यमा) नेपच्यून का वरुण और अज्ञात ग्रह का ऋत नाम से वर्णन है—

कद्व ऋतस्य धर्णसि कद् वरुणस्य चक्षणम्।
कदर्यम्णोपमहस्पथातिक्रामेम दूढ्यो वित्तं मेऽस्य रोदसी॥
ऋ० १।१०५।६)

इस मन्त्र में अर्यमन् (अर्यमा), वरुण, ऋत' इन तीन ग्रहों के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न किए गये हैं जो कि रहस्य पूर्ण हैं। प्रश्न क्रमशः इस प्रकार हैं कि "हे द्युलोक के ग्रहो! तुम्हारे में से† (अर्यम्णः-महः पथा‡ कत्) अर्यमन्-यूरेनस का महान् पन्था-

† अमी ये देवा स्थान त्रिष्वारोचने दिवः (पूर्वमन्त्र)

‡ यहां (पथिन्) शब्द से प्रथमा एक वचन के स्थान में "डा" प्रत्यय "सुपां सुलुक् पूर्व (सवर्णाच्छे याडा०" अष्टा ७।१।३९।)

महापथ अर्थात् सूर्य के चारों ओर घूमने का मार्ग कहां है कौनसा है" यह प्रश्न आश्चर्य दर्शाने के लिये है क्योंकि वह सूर्य से बहुत दूर है। दूसरा प्रश्न है "(वरुणस्य चक्षणं क्व) वरुण-नेपच्यून का दर्शन दृश्य विन्दु कहां है-कौनसा है" यहां आश्चर्य यह है कि वरुण-नेपच्यून तीव्रदृष्टि वाली आँख से भी दिखलाई नहीं पड़ता केवल दूरवीक्षण यन्त्र से ही दीख पड़ता है इस लिये इस का दृश्य विन्दु कहां है ऐसा कहा है। तीसरा प्रश्न है '(ऋतस्य धर्णसि क्व) ऋत—सब से परले अज्ञात ग्रह का धरातल कहां है-कौनसा है' यहां आश्चर्य यह है कि वह परला अज्ञात ग्रह दूरवीक्षण यन्त्र से देखने में भी नहीं आता किन्तु उस का फ़ोटो दूरवीक्षण यन्त्र से आजाता है अतः ऐसे ग्रह का धरातल कहां है यह जिज्ञासा होती है।

मन्त्र में परले अज्ञात ग्रह को 'ऋत' नाम दिया है वह सर्वथा उचित है क्योंकि परले अवकाश में रहने वाले को ऋत कहा गया भी है "ऋतमेव परमेष्ठि" (तै० ब्रा० १।५।५।१) इस वचन में ऋत को 'परमेष्ठि' परम-परले अवकाश में रहने वाला कहा है $। दूसरी बात मन्त्र 'वः' शब्द से पूर्व मन्त्र से 'देवाः' का अनुवर्तन है वे भी द्युलोक में रहने वाले हैं ऐसा विशेषण और भी साधक है "अमी ये देवा स्थन त्रिष्वारोचने दिवः" (ऋ० १।१०५।५) अर्थात् "ये जो द्युलोक के तीनों प्रकाशमण्डलों

$ परमे स्थाने तिष्ठति-इति परमेष्ठि।

में तुम देव हो-द्योतमान ग्रह हो।" ऐसा कहकर वहां पूछा है कि "क्व ऋतं कदनृतं क प्रत्ना व आहुति०" कहां-कौन तुम्हारा परम-स्थान अर्थात् छोर है और कौन ओर है तथा तुम्हारी पहिली आहुति आधारमूल या प्रारम्भमूल क्या है।

अर्यमन् (अर्यमा) यूरेनस का मार्ग महान् है अत एव इसके चार उपग्रह हैं और रंग समुद्र के जैसा नीलपरक हरा है, वरुण (नेपच्यून) का रंग बड़े दूरदर्शक यन्त्रों से दिखाई पड़ता है। ऋत अर्थात् परले अज्ञात ग्रह की तो कथा ही क्या। अस्तु। आगे 'धूमकेतु' के सम्बन्ध में देखें।

धूमकेतु

आकाशीय पिण्डों में धूमकेतु (पुच्छलतारा) एक विचित्र और महत्त्वपूर्ण पिण्ड है, यह न ग्रह की श्रेणी में गिना जासकता है और न नक्षत्र की श्रेणि का ही है किन्तु अपने ढंग का भिन्न ज्योतिष्पिण्ड है। इसके आकार में मुख, मध्य (नाभि) और इसका पुच्छ ये तीन भाग होते हैं। जैसे जैसे यह सूर्य के समीप आता है तो आकार स्पष्ट और बड़ा होता जाता है विशेषतः पुच्छ बहुत लम्बी और प्रकाशमान होजाती है। वेद में धूमकेतु नामक पुच्छवाले ज्योतिष्पिण्डों का वर्णन आता है संक्षेप में यहां देते हैं।

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः० ॥

(अथर्व० १९ । ९ । १०)

इस मन्त्र में आकाश के अनित्य या कदाचित होने वाले लक्ष्यों का वर्णन किया है, जोकि 'चन्द्रमा के ग्रहण, सूर्य का ग्रहण, धूमकेतु (पुच्छलतारे)' हैं। मन्त्र में धूमकेतु का मृत्यु-मारक विशेषण दिया हुआ इस लिये है कि इस में विषैले पदार्थ होते हैं। 'सौर परिवार' पुस्तक में लिखा है "इतना निश्चय है कि उनकी पुच्छों में कर्बन एकोषिद् (Carbon monoxide) आदि विषैले गैस अवश्य होते हैं; हमारा वायुमण्डल इतना कलुषित होजावे कि हम सब मर जायें" (सौरपरिवार। पृष्ठ ६८१)।

स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः ।
धिये वाजाय हिन्वतु ॥

(ऋ० १ । २७ । ११)

अर्थ—(सः-महान्-अनिमानः पुरुश्चन्द्रः-धूमकेतुः) वह महान् तथा अपरिमिताकारवाला-अत्यन्त फैलाव वाला बहुत चन्दों वाला धूमकेतु पुच्छल तारा (नः-धिये वाजाय हिन्वतु) हमें बुद्धि के लिये † एवं बल के लिये ‡ प्रेरित करे।

इस मन्त्र में एक बड़े महत्व की बात धूमकेतु को 'अनिमान'

---

† "धीः प्रज्ञानाम" (निघ० ३ । ९)

‡ "वाजं बलनाम" (निघ० २ । ९)

अर्थात् अपरिमिताकारवाला अत्यन्त फलाववाला होने की कही है। आधुनिक योरोपियन ज्योतिषियों ने निरीक्षण से सिद्ध किया है कि धूमकेतु का आकार बहुत बड़ा होता है। उसका शिर ही पृथिवी की अपेक्षा व्यास में साधारणतः चौगुणे से लेकर बीसगुणे तक का होता है और किसी किसी का तो शिर सूर्य से भी बहुत बड़ा है। सूर्य का व्यास ही साढ़े आठ लाख मील के लगभग बतलाया जाता है पुनः परिधि तो २५ लाख मील से भी ऊपर ही बैठती है। इस प्रकार जब किसी किसी धूमकेतु का शिर ही सूर्य से बड़ा अर्थात् पच्चीस लाख मील से भी बड़ा हुआ तब उसकी पुच्छ का क्या ठिकाना ? पुच्छ का परिमाण दश करोड़ मील तक बतलाया जाता है, इस लिये वेद में इसे 'अनिमान' अर्थात् अपरिमिताकारवाला कहा गया है सो सर्वथा ठीक है। दूसरी बात मन्त्र में कही है 'पुरुश्चन्द्र' अर्थात् बहुत चन्दों वाला-बहुत कणविभागों वाला धूमकेतु होता है। धूमकेतु चमकने वाले कणों का पुञ्ज है वह ग्रहों की भांति एकाङ्ग या ठोस नहीं होता अपितु इनका आकार घटता बढ़ता रहता है। बहुत बार ये टुकड़े टूट जाते हैं उस धूमकेतु के दो दो और चार चार तक विभाग भी हो जाते हैं। तीसरी बात मन्त्र में बुद्धि और बल की प्रेरणा करने वाला इसे कहा है, ऐसे महाकार अद्भुत तारे को देख कर आश्चर्य होता है इस से बुद्धि को विकसित होने का अवसर मिलता है और ऐसी ईश्वरीय महिमा के देखने से आत्मबल भी बढ़ता है।

धूमकेतु अनेक हैः—

हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि ।
यतन्ते वृथगग्नयः ॥

(ऋ० ८। ४३। ४)

अर्थ—(हरयः—वातजूताः—अग्नयः—धूमकेतवः—द्यवि वृथक् उप यतन्ते) हरणशील या हरे रंगवाले, कक्षावृत्तीय वायुमण्डल द्वारा प्रेरित हुए अग्निरूप धूमकेतु द्युमण्डल—आकाश में पृथक् पृथक् क्रमिक गति करते हैं-आते जाते हैं † ।

यहां 'धूमकेतवः' बहुवचन से स्पष्ट होता है कि धूमकेतु बहुत हैं सहस्रों से भी अधिक हैं, दूसरी बात यहां कही है कि वे पृथक् पृथक् गति क्रम से आते जाते हैं। धूमकेतु बहुत हैं यह तो प्राचीन भारतीय ज्योतिषियों ने भी माना है तथा योरोपियन ज्योतिषी भी मानते हैं। वे पृथक् पृथक् गति क्रम से आते जाते हैं इनका गति क्रम कम से कम साढ़े तीन वर्ष से लेकर पांच सौ छः सौ वर्ष तक का ज्ञात हुआ है परन्तु इन में कई ऐसे भी हैं जिनका इससे भी अधिक समय बीत गया एक बार दीखकर फिर अभी तक नहीं लौटे । तीसरी बात कही है 'वातजूताः' की अर्थात् कक्षावृत्तीय' वायुमण्डल से प्रेरित होने की, इस से सिद्ध होता है कि इनका अधिकांश विशेषतः पुच्छ भाग सूक्ष्म कणों का बना हुआ है जो धूल के समान कणसमूह है अत

† "यतते गतिकर्मा" (निघं० २ । १४)

एव सूर्य के समीप पहुंचने पर धूमकेतु की पुच्छ सूर्य से विपरीत दिशा में मुड़ जाती है साथ ही पारदर्शकता भी सिद्ध होती है। जब धूमकेतु गति करता हुआ सूर्य के सामने आजाता है तो इसकी छाया सूर्य पर चन्द्रमा से ग्रहण की भांति नहीं पड़ती किन्तु सूर्य वैसा ही चमकता रहता है तथा यदि कोई ग्रह इसकी पुच्छ के पीछे हो वह भी दीखता रहता है अतः इसके भाग धूल की भांति उड़ने वाले सूक्ष्म अवयवों से युक्त हैं। चौथी बात कही है ये धूमकेतु अग्नि रूप हैं सो इस से यह स्पष्ट होता है कि इन से उल्काएं भी आकाश में उत्पन्न हो जाती हैं पुनः पृथिवी पर गिर कर ठण्डी हो जाती हैं। उल्काएं क्या हैं यह 'उल्का' प्रकरण में कहा जायगा।

धूमकेतु सूर्य की परिक्रमा अत्यन्त लम्बाग्रमान कक्षावृत्त में भ्रमण करते हुए करते हैं। कुछेक छोटे-छोटे धूमकेतु बृहस्पति आदि ग्रहों के भी हैं। "वाराही संहिता" नामक ज्योतिष् ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न ग्रहों के साथ सम्बन्ध रखने वाले धूमकेतुओं का वर्णन किया है वहां अनेक प्रसिद्ध धूमकेतुओं के नाम, स्वरूप और कक्षावृत्त का वर्णन भी दिया है वहां दिए हुए शब्द संक्षेप में यहां दर्शाते हैं—

ग्रहों से सम्बन्धित धूम केतु	रविजाः, शनैश्चराङ्गारकजाः, बुधजाः, वरुणजाः, भौमाः, इति केतुमहसम्।
प्रसिद्ध धूमकेतुओं के नाम	वसाकेतुः, कपालकेतुः, चलकेतुः, श्वेतकेतुः, रश्मिकेतुः, ध्रुवकेतुः, इत्यादि।

धूमकेतुओं के स्वरूप	इन्द्रायुधानुकारीः, हारमणिहेमरूपाः, दर्पण वृत्ताकाराः, जटाकाराः, हरिलांगूलोपमाः,
धूमकेतुओं के कक्षा-वृत्त का सङ्केत	गच्छेद्यथायथोदक् तथा तथा दैर्घ्यमायाति। (उत्तर की ओर जैसे जैसे जाता है दीर्घता को प्राप्त हो जाता है)

(उत्तर की ओर जैसे जैसे जाता है दीर्घता को प्राप्त हो जाता हैं) वाराही संहिता की टीका में भटोत्पल ने उस से पूर्व की पराशर संहिता के वचन धूमकेतु के सम्बन्ध में दिये हैं वे देखने योग्य हैं—

अथ पैतामहश्चलकेतुः पञ्चवर्षशतं प्रोष्योदितः।
अथोद्दालकः श्वेतकेतु दशोत्तरं वर्षशतं प्रोष्य-दृश्यः॥
केतुः पञ्च दशं वर्षशतं प्रोष्यैन्द्र्यां अथ रश्मिकेतु
विभावसुजः प्रोष्य वर्षशतमावर्तकेतो श्चारान्ते उदितः।
इत्यादि ॥

अर्थात् पैतामह चलकेतु ५०० वर्ष प्रवास करके दृष्ट हुआ, उद्दालक श्वेतकेतु ११० वर्ष पीछे लौटा, काश्यप केतु १५०० वर्ष पीछे दीखा। विभावसु से उत्पन्न रश्मिकेतु सौ वर्ष के पश्चात् दृश्य हुआ तथा आवर्तकेतु कृत्तिका नक्षत्र में दृष्ट हुआ, इत्यादि। अस्तु।

अगला प्रकरण 'उल्का' के सम्बन्ध में देखें।

उल्का

आकाश में रात्रि के समय विशेषतः अर्ध रात्रि के पश्चात तारे टूटते हुए जैसे दृश्य दिखलाई पडते हैं। वास्तव में तारे नहीं टूटते हैं किन्तु उल्काएं गिरती हैं उस दृश्य को उल्कापात कहा जाता है। उल्काएं प्राकृतिक लोहे आदि द्रव्य हैं, वे आकाश से गिरते हुए वेगवशात जल उठते हैं अत एव वे तारे टूटते हुए जैसे दृष्टिगोचर होते हैं। उल्काओं का सर्व प्रथम वर्णन चीनी पुस्तकों और बाईबिल में ही आया है ऐसा किन्हीं विद्वानों का कथन है परन्तु यह बात सत्य नहीं है कारण कि इन से भी

प्राचीन 'मनुस्मृति' में उल्काओं का वर्णन आता है "उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च" (मनु० १। ३८)। अपितु मनुस्मृति से भी प्राचीन अति प्राचीन वेदों में उल्काओं का वर्णन मिलता है, संक्षेप में यहां दर्शाते हैं।

उल्का और उसकी उत्पत्ति—

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः।
शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु॥

(अथर्व० १६। ६। ६)

इस मन्त्र में 'उल्का' शब्द दो बार आया है। एक तो स्वतंत्र रूप से मन्त्र के उत्तरार्द्ध में 'उल्काः' बहुवचन में। दूसरे 'उल्काभिहतम्' समस्त पद। प्रथम बहुवचनान्त 'उल्काः, शब्द से उल्काएं बहुत होती हैं यह स्पष्ट किया है। दूसरे 'नक्षत्रम्-उल्काभिहतम्' उल्काओं से अभिहत-संहत घिरा हुआ-जड़ा हुआ नक्षत्र कहा गया है † सो ऐसा नक्षत्र धूमकेतु ही हो सकता है, धूमकेतु उल्काओं को छोड़ता है अत एव उल्काओं की उत्पत्ति

---

† 'उल्काभिहतम्' का कहीं 'उल्का. अभिहतम्' ऐसा दो पद में पाठ दिया है परन्तु उत्तरार्द्ध में 'उल्काः स्वतन्त्र शब्द है अतः पूर्वार्ध का पाठ 'उल्काभिहतम्' ऐसा समस्त पद ही पाठ ठीक है, कहीं कहीं 'उल्काभिहतम्' पाठ भी है सायणभाष्य से भी समस्त पद ही सिद्ध होता है "उल्काभिहतम्-समन्ताद् आकाशात् पतन्तीभिरायतज्वालाभिरुप प्लुतं नक्षत्रम्" (सायणः)।

धूमकेतु से होती है। 'सौर परिवार' पुस्तक में भी कहा है "अनुमान किया जाता है कि पुच्छल ताराओं के मार्ग में असंख्य रोड़े बिखरे रहते हैं ये ही हमें समय पाकर उल्काओं के रूप में दिखलाई पड़ते हैं" (सौरपरिवार पृष्ठ ७२१) "सम्पात मूल उस बिन्दु को कहते है जिससे उल्काएं आती हुई दिखलाई पड़ती हैं बाज़ बाज़ सम्पातमूल का मार्ग ठीक वही होने के कारण जिसमें पहिले कोई केतु चलता था लोग समझते हैं कि उल्काप्रस्तर किसी केतु के अवश्य होंगे "(सौरपरिवार पृष्ठ ७१६) "प्रसिद्ध बीलाकेतु सन् १८५२ के बाद फिर नहीं देखा गया है परन्तु ठीक उसी कक्षा में एक सम्पातमूल चलता पाया गया है इससे समझा जाता है कि उल्काएं वस्तुतः केतु से ही उत्पन्न होती होंगी, (सौर परिवार पृष्ठ ७२३)। यह पीछे बतलाया जा चुका है कि केतु (धूमकेतु) कई प्रकार के हैं, हमारी सम्मति में पृथिवी के केतुओं (धूमकेतुओं) से पृथिवी पर समस्त नहीं तो अधिकांश उल्काएं गिरती हैं। पाश्चात्यज्योतिषी इन पृथिवी के धूमकेतुओं की सत्ता नहीं मानते किन्तु पृथिवी और मङ्गल के मध्य में सहस्रों अवान्तर ग्रह मानते हैं जिन में तीन मील व्यास तक के छोटे छोटे अवान्तर ग्रह बतलाए जाते हैं, हमारी सम्मति में ये अवान्तर ग्रह पृथिवी के धूमकेतु 'बृहत्संहिता' में कहे गये हैं इन्हीं से अधिकांश में पृथिवी पर उल्काएं गिरती होंगी।

उल्काएं केतुओं (धूमकेतुओं) से उत्पन्न होती एवं आती हैं परन्तु उन्हें कौन धूमकेतुओं से पृथक् करके नीचे प्रेरित करता है यह प्रश्न होता है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में योरोपियन ज्योति-

षियों का मौन है किन्तु वेद में उत्तर दिया है—

उल्काओं को नीचे कौन प्रेरित करता है—

आप्रुपायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः। बृहस्पति० ॥

(ऋ० १० । ६८ । ४, अथर्व० २० । १६ । ४)

इस मन्त्र का देवता 'बृहस्पति' † है। "बृहस्पति ने जल से पृथिवी को सींचने के हेतु जल के योनि अर्थात् मेघ को ऐसे फैंकते हुए (फैंकता है) 'अर्क उल्कामिव द्योः' सूर्य जैसे आकाश में उल्का को फैंकता है' इस उपमारूप कथन में यह स्पष्ट होता है कि आकाश से उल्काओं को सूर्य फैंकता है।

उल्काओं से हानि—

शं नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत्।

(अथर्व० १६ । ६ । ८)

यहां कहा गया है कि 'काँपती हुई भूमि शान्त हो और उल्काओं से ताडित दग्ध स्थान शान्त हो' सायण ने भी कहा है "उल्कानिहतम् उल्काभिः आयतज्वालारूपेण पतन्तीभि र्बाधितं दग्धं यद् विद्यते तच्च शम् अस्तु" (सायणः) उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि उल्काओं में आघात करने के पदार्थ होते हैं जो

† "ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पति रधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः"

(अथर्व० । ।)

लोहे पत्थर या लोहे पत्थरों के मिश्रण होते हैं जिन में जल उठने और चोट मारने का धर्म हो, उन्हें उल्काप्रस्तर कह सकते हैं ये उल्काप्रस्तर छोटे छोटे और बड़े बड़े पचास पचास मन के एवं हजार २ मन तक के भी होते हैं। इनके पृथिवी पर गिरने से प्राणियों के संहार के साथ नगर जङ्गल मीलों तक नष्ट और दग्ध होजाता है। बड़े बड़े उल्काप्रस्तर बड़े बड़े तडाग जैसे गहरे गर्त गढ़े कर देते हैं। बहुत छोटी छोटी उल्काएं तो प्रायः ऊपर ही ऊपर जलकर विलीन होजाती या फटकर विखर जाती हैं और कुछ बड़ी उल्काएं पृथिवी पर गिरकर टुकड़े टुकड़े हो जाती हैं परन्तु बहुत भारी उल्काएं भूमि के अन्दर गजों नीचे धंस जाती हैं।

अब हम उल्काओं के आकार रूप आदि का संक्षिप्त वर्णन ज्योतिषशास्त्रों के द्वारा करते हैं—

उल्का शिरसि विशाला विपतन्ती वर्धते प्रतनुपुच्छा।
दीर्घा भवति च पुरुषं भेदा बहवो भवन्त्यस्याः॥
(वाराही संहिता। ३३। ८)

'उल्का शिर की ओर विशाल गिरती हुई बढ़ती है सूक्ष्म पुच्छ वाली तथा पुरुष जितनी बड़ी होती है इसके भेद बहुत हैं।

बृहच्छिखा च सूक्ष्माग्रा रक्तनीलशिखोज्ज्वला।
पौरुषेयी प्रमाणेन उल्का नानाविधा स्मृता॥
(काश्यपसंहिता)

अर्थात् 'बड़ी शिखावाली सूक्ष्माग्रभागवाली लालनील-शिखावाली उज्ज्वल चमकीली आकाश में आती हुई मनुष्य जितने माप की नानाप्रकार की उल्काएं होती हैं।' आगे 'पृथिवी' के सम्बन्ध में देखें।

पृथिवी

समस्त आकाशीय पिण्डों के कथनानन्तर पृथिवी का वर्णन किया जाता है। इस प्रकरण में 'पृथिवी एक या अनेक, पृथिवी गोल, पृथिवी का घूमना, भूपृष्ठ और भूप्रदेश भूगर्भ, पृथिवी की आकर्षण शक्ति, पृथिवी की उत्पत्ति, भूसमुद्र, भूतल पर जीव सृष्टि, इन विषयों का वेदों के आधार पर क्रमशः वर्णन करते हैं।

सर्वप्रथम हम यह देखना चाहते हैं कि इतने बड़े विस्तृत आकाश में क्या पृथिवी यह एक ही है जिस पर हम रहते हैं अथवा अन्य भी हैं?

पृथिवी अनेक हैं—

कतमस्याः पृथिव्याः ।

(अथर्व० ८।६।१)

अर्थात् 'कौनसी पृथिवी से' इस प्रकार प्रश्न से पृथिवी अनेक हैं यह सिद्ध होता है ।

कालोमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।

(अथर्व० १६।५३।५)

'काल ने इस द्युमण्डल-प्रकाशमण्डल को उत्पन्न किया तथा काल ने इन पृथिवियों को उत्पन्न किया है' । यहां पृथिवी बहुत हैं यह स्पष्ट है ।

शतं भूमीरुत स्युः ।

(ऋ० ८।७०।५, अथर्व० २०।८२।१, ६३।२०)

'सैंकडों भूमि हैं' इस कथन में पृथिवी बहुत हैं यह सिद्ध है ।

पृथिवी गोल है—

हम देखते हैं कि सूर्य आदि समस्त आकाशीय पिण्ड गोल हैं, अत एव पृथिवी भी आकाशीय पिण्ड होने के कारण गोल ही होनी चाहिये । पृथिवी के गोल होने का ज्ञान योरोपियन विद्वानों को कोलम्बस की यात्रा से हुआ प्रत्युत भारतीय आर्यों को बहुत पहिले पृथिवी के गोल होने का ज्ञान होचुका था । जैसा कि 'पञ्चसिद्धान्तिका' ज्योतिषग्रन्थ में कहा है—

पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोलः ।
खेऽयस्कान्तान्तःस्थो लोह इवावस्थितो वृत्तः ॥
(पञ्चसिद्धान्तिका त्रैलोक्यसंस्थान। १३। १)

अर्थात् पञ्चमहाभूतमय (आकाश वायु अग्नि जल मृत्तिका रूप) महीगोल पृथिवी गोल आकाश के अन्दर नक्षत्रगण रूप पिञ्जरे में अयस्कान्त चुम्बक से घिरे हुए गोल लोहे लोहगोले की भांति अवस्थित है* ।

ज्योतिष ग्रन्थों से भी पूर्व वेद में पृथिवी के गोल होने का संकेत है—

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे भानुमञ्जते ।
(ऋ० १।६२।१)

---

* भारतीय विद्वानों ने तो समस्त गोल पिण्डों का आधार रूप आकाश भी गोल है यह निश्चय कर लिया था—

ब्रह्माण्ड मेत त्सुषिरं तत्रे दं भूर्भु वादिकम् ।
कटाह द्वितयस्येवं सम्पुटं गोलकाकृतिः ॥
(सूर्य सिद्धान्त। भूगो०। २८)

अर्थात् 'यह ब्रह्माण्ड पोला गोला है इस में भूर्भु वादिक लोक हैं यह दो कटाहों के बने सम्पुट की भांति गोलाकार वाला है' । आज अनेक खोजों के पश्चात् योरोपियन विद्वानों ने यह माना कि भूगोल आदि गोल पिण्डों का परिधि रूप आकाश भी गोल है विमान आदि चालन भी समसूत्र में (एक लेविल में) गोलाई को ही पूरा करेगा ।

इस मन्त्र में कहा है 'जब ये उषाएं (उष्ण किरणें) लालिमा को फेंकती हैं तो फिर 'रजसः पूर्वे अर्धे' पृथिवी आदि लोक के† पूर्व के आधे भाग में-सामने के आधे भाग में 'भानुम्-अञ्जते' दिन को प्रकट करती हैं‡।

उक्त मन्त्र में 'पूर्वे अर्धे' यह शब्द बहुत ही महत्त्व पूर्ण है, इस से सामने के आधे भाग पर दिन के होने का वर्णन पृथिवी आदि को गोल मानकर ही होसकता है, अतः वेदमें पृथिवी गोल होने का सङ्केत अत्यन्त स्पष्ट है। देखिये इसी मन्त्र का अनुवाद रूप जैसा वचन 'आर्यभट्टीय' ज्योतिष् ग्रन्थ में दिया हुआ गोलसिद्धि में साक्षी है—

भूग्रहभानां गोलार्धानि स्वच्छायया विवर्णानि।
अर्धानि यथासारं सूर्याभिमुखानि दीप्यन्ते॥
(आर्य भट्टीय ।४।५)

अर्थात् 'पृथिवी, ग्रह, नक्षत्रों के गोलार्ध-आधे गोल भाग अपनी छाया से वर्ण रहित है और सूर्य के सम्मुख हुए आधे भाग प्रकाशित होते हैं।' उक्त वचन में दिये हुए 'भूग्रहभानां अर्धानि गोलार्धानि सूर्याभिमुखानि दीप्यन्ते' से पूर्वोक्त वेद मन्त्र के 'रजसः पूर्वे अर्धे उषसः भानुमञ्जते' का समतोलन कीजिये। यहां आर्य भट्टीय के 'अर्धानि-गोलार्धानि' के समान मन्त्र का 'पूर्वे अर्धे-पूर्वगोलार्धे' सुस्पष्ट हो जाता है अतः यह सुतरां सिद्ध

† "इमे वै लोका रजांसि" (श०।६।३।१।१८)

‡ "भानुः-अहर्नाम" (निघं० १।९)

हुआ कि वेद पृथिवी आदि पिण्डों को गोल मानता है, इसलिये पृथिवी गोल है यह वेद का सिद्धान्त है*।

पृथिवी गोल है अत एव सर्वत्र रहने वाले अपने को ऊपर और दूसरी ओर के रहने वाले को नीचे समझते हैं वास्तव में इसके गोल होने से ऊपर नीचे कुछ नहीं है†। इस हमारे पृथिवी गोल का व्यास 'सूर्यसिद्धान्त' में १६०० योजन बतलाया है, चार कोश का योजन होता है ६४०० कोश का व्यास हुआ ‡ योरोपियन विद्वानों की सम्मति में ८००० मील के लगभग पृथिवी-व्यास माना जाता है। सूर्यसिद्धान्त में जो १६०० योजन अर्थात् ६४०० कोश कहा है वह भी सवा मील एक कोश के बराबर होने से आठ सहस्र ८००० मील ही बैठता है§।

पृथिवी का आधार—

पृथिवी गोल जिसका व्यास ८००० मील और परिधि लग-

---

* इस मन्त्र के अनुरूप कथन पृथिवी को गोल मानने वाला 'सूर्य से काल की उत्पत्ति' में ऐतरेय ब्राह्मण का वचन देखें।

† सर्वत्रैव महीगोले स्वस्थान मुपरिस्थितम्।
मन्यन्ते खे यतो गोलस्तस्य क्वोर्ध्वंक वाप्यधः॥
(सूर्य सि० १२।५३)

‡ योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानितु।
(सूर्य सि० १।५६)

§ जहां हम रहते है वहां सवा मील का कोश होता है हो सकता है अन्यत्र भी होता है।

भग २५००० मील है ऐसे इस भारी गोले का आधार क्या है, यह देखना है। पृथिवी ध्रुव को अक्ष मानकर घूमती है यह ठीक परन्तु कहीं दूर न चली जावे इससे किसी के आश्रय की आवश्यकता है जो इसे सम्भाले रखता है। वेद में पृथिवी गोल का आधार बतलाने वाले अनेक मन्त्र हैं संक्षेप में यहां देते हैं।

सूर्य पृथिवी को धारण करता है—

अधारयत्पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया
द्यामवस्रसः ॥

(ऋ० २। १७। ५)

इन्द्र अर्थात् सूर्य ने विश्वधात्री पृथिवी को धारण किया हुआ है तथा द्युमण्डल प्रकाशमण्डल को भी अपनी शक्ति से धारण किया हुआ है।'

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम्।
अनड्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान् विश्वं भुवनमाविवेश।

(अथर्व० ४। ११। १)

अर्थ–(अनड्वान् पृथिवीम्-उत द्यां दाधार) सूर्य ने†पृथिवी तथा द्युमण्डल को धारण किया हुआ है। (अनड्वान्-उरु-अन्तरिक्षं-दाधार) सूर्य ने विस्तृत अन्तरिक्ष को धारण किया हुआ है (अनड्वान् षट्-उर्वीः प्रदिशः-दाधार, सूर्य ने छः महती प्रदिशाओं

† 'श्येत इव ह्येष सूर्यः उद्यंश्चास्तं च यन् भवति तस्माच्छ्येतो ऽनड्वान्" (श० ५।२।१।७)

को धारण किया हुआ है (अनड्वान् विश्वं भुवनम्-आविवेश) सूर्य ने समस्त भुवन में प्रवेश किया हुआ है ।

यहां भी स्पष्ट है कि पृथिवी और सकल ब्रह्माण्ड को सूर्य ने धारण किया हुआ है ।

सूर्य ने अपनी किरणों से पृथिवी को धारण किया हुआ है—

दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः ।

(ऋ० ७ । ९९ । ३, यजु० ५ । १६)

विष्णु अर्थात सूर्य ने सब ओर से किरणों द्वारा पृथिवी को धारण किया हुआ है‡ ।

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कंभने ।

(ऋ० १० । १४९ ।)

सूर्य ने यन्त्रों-नियमन साधन किरणों से अनाश्रय आकाश में पृथिवी को थामा है । परिधिमण्डल रूप वरुण पृथिवी गोल को तोले हुए है—

प्रसक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ।

(अथर्व० ५ । २ । ७)

मन्त्र का देवता 'वरुण' है, वरुण परिधिमण्डल का नाम है, परिधिमण्डल पृथिवी के प्रतिमान आकार परिमाण को प्राप्त होना है स्वायत्त करता है ।

---

‡ "मयूखाः-रश्मयः" (निघ० १ । ५)

विशेष—सूर्य,सूर्यकिरणें और परिधिमण्डल [illegible] से धारण करते हैं यह 'पृथिवी का घूमना' प्रकरण में [illegible]।

पृथिवी का घूमना—

समस्त आकाशीय पिण्ड घूमते हैं, बिना घूमे कोई भी पदार्थ आकाश में ठहर नहीं सकता यह हम 'राशि' प्रकरण में 'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि,' मन्त्र द्वारा बतला आए हैं कि प्रत्येक आकाशीय पिण्ड के तीन 'नभ्य' अर्थात् केन्द्र होते हैं अत एव प्रत्येक गोले की तीन प्रकार की गति होती हैं। एक तो अपने केन्द्र पर पश्चिम से पूर्व को गति करना, दूसरी सूर्य को केन्द्र बनाकर घूमना, अर्थात् सूर्य की परिक्रमा करना तीसरी ध्रुव को केन्द्र मानकर गति करना (अक्षगति या अक्षचलन) ये तीन गतियां हैं। आकाशीय अन्य पिण्डों की गति तो हमें स्पष्ट देखने में आती है क्योंकि हम उन पिण्डों को स्थानान्तरित होते देखते हैं परन्तु पृथिवी पर हम रहते हैं इस लिये इसकी गति हम अन्य पिण्डों की भांति देख नहीं सकते, परन्तु पृथिवी गति करती है॥

निज केन्द्र पर पृथिवी की दैनिक गति—

येषामज्मेषु पृथिवी जुजुर्वा इव विश्पतिः।
भिया यामेषु रेजते॥

'मरुतों अर्थात् वायुओं के अज्मों अर्थात् प्रक्षेपणों-प्रेरण

प्रवाहों में* वर्तमान हुई पृथिवी यामों अर्थात् प्रहरों-आठ प्रहरों में बूढ़े पुत्र-पौत्रसन्ततिमान् गृहस्थ की भांति कुबड़ी-टेढ़ी-आड़ी हो गति करती है †।

इस मन्त्र पर ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है कि—"वायुभिः सर्वतो धारितः पृथिवीलोकः स्वपरिधौ प्रतिक्षणं भ्रमति" (दयानन्दः) अर्थात् 'वायुओं से धारित हुआ पृथिवी-लोक अपनी परिधि में प्रतिक्षण भ्रमण करता है'।

पृथिवी गति करती है यह तो उक्त मन्त्र के 'रेजते' शब्द से स्पष्ट हो ही गया। साथ में यहां तीन बातें महत्त्वपूर्ण कही गई हैं, जिनमें एक तो 'मरुतों के प्रेरण प्रवाहों में पृथिवी गति करती है अर्थात् जैसे जलप्रवाहों में कोई वस्तु गति करती है। जलप्रवाहों की गति और जलप्रवाहों के साथ वस्तु की गति समान होती है एवं पृथिवी गति करती है अपने चारों ओर के वायु प्रवाहों के साथ। तात्पर्य यह है कि पृथिवी सम्बन्धी वायु-प्रवाह-वायुवेष्टन भी गति करता है अतएव पक्षी प्रातःकाल अपने घोंसले से उठकर सायंकाल पुनः उसी अपने घोंसले को पालेता है अन्यथा उसको अपना घोंसला न मिलता परन्तु पृथिवी का वायुमण्डल भी पृथिवी के साथ गति करता है, अतएव वह घोंसले को पा लेता है। ये मरुत सात गणों में हैं। "सप्त हि मारुतो गणः" (श० २।५।१।१३) "सप्त गणा वै मरुतः" (तै० १।६।

* "अज-गतिक्षेपणयोः" (भ्वादि)

† "रेजते गतिकर्मा" (निघ० २।१४)

१।१) और प्रत्येक गण में सात-सात हैं 'सप्त सप्त हि मारुता गणाः' (श० ९।३।१।२५) ये सात सात विभागों वाले सात मरुतों के गए हैं। इस प्रकार सब ४९ मरुत हुए जो पृथिवी के चारों ओर फैले हुए स्तर-परत-तह के रूप में हैं जोकि सम्भवतः सात सात योजन का एक एक गण है, एवं समस्त मरुद्गणों के ४९ योजन अर्थात् १९६ कोश या २४५ मील तक पृथिवी का आकर्षण निज अंशों को आकर्षित करने के लिये रहता है। प्रत्येक गण में सात सात स्तर-परत या तह होने से एक एक मरुत्स्तर एक एक योजन का हुआ। मरुत्स्तर की दूरी तक अर्थात् एक योजन या चार कोश या पांच मील तक अधिक से अधिक पर्वत की ऊंचाई तथा भारी विमान की उड़ान हो सकती है। दूसरे और तीसरे मरुत्स्तर की दूरी तक अत्यन्त हलके धातु का विमान या पारे से चलने वाला विमान जा सकता है। चौथे और पांचवे मरुत्स्तर की दूरी तक वायु भरा वस्त्रविमान या गुब्बारा उड़ सकता है। छठे और सातवें मरुत्स्तर तक कोई वायव्य (गैस) पदार्थ ही पहुंच सकता है। आगे तो उल्काएं ही विचर सकती हैं जो ठण्डी होकर जमकर भारी बनकर पृथिवी के आकर्षण से पृथिवी पर आ गिरती हैं।

दूसरी बात मन्त्र में 'जुजुर्वां इव विश्पतिः' बूढ़े गृहस्थ की भांति कुबड़ी टेढ़ी आड़ी चलने की है अर्थात् पृथिवी अपने अक्ष पर टेढ़ी आड़ी गति करती है। यदि पृथिवी अपने अक्ष पर आड़ी गति न करती तो सब स्थानों पर दिन रात बराबर होते।

तीसरी बात मन्त्र में महत्त्वपूर्ण कही है यामों प्रहरों में पृथिवी गति करती है। दिन रात के आठ याम प्रहर होते हैं जो प्रत्येक तीन तीन घन्टे का होता है इस प्रकार आठ यामों प्रहरों साठ घड़ियों २४ घण्टों (२३ घण्टों और ५६ मिनटों ४ सेकण्डों) में गति करने की बात है जो पृथिवी की दैनिक गति को सिद्ध करती है। पृथिवी का अपने केन्द्र पर अपने वायुमण्डल को साथ लेकर गति करना यह उसकी प्रथम दैनिक गति है। पृथिवी की दैनिक गति से दिन रात प्रकट होते हैं यह संकेत अन्यत्र है "अहो रात्रे पृथिवि नो दुहाताम्" (अथर्व० १२।१।३६)

वायुओं के प्रेरण प्रवाह पृथिवी को गति देते हैं इस विषय में 'सूर्य सिद्धान्त' के प्रमाण 'परिधि मण्डल और वातसूत्र' के प्रकरण में दिये जा चुके हैं वहां देखें वहां प्रवहानिलों और वातरश्मियों को समस्त पिण्डों की गति का कारण बतलाया गया है। पृथिवी अपने केन्द्र पर गति करती है यह 'आर्यभट्टीय' ज्योतिष्-ग्रन्थ में कहा है यहां देते हैं—

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत्-समपश्चिमगानि लङ्कायाम्॥

(आर्य भट्टीय ।४।६)

अर्थात् जैसे नौकास्थित मनुष्य अनुकूल दिशा में चलता हुआ तट की वृक्ष आदि अचल वस्तु को अपने से उलटी दिशा में चलती हुई देखता है ऐसे ही चलती हुई पृथिवी पर स्थित मनुष्य अचल नक्षत्रों को ठीक पश्चिम की ओर चलते हुए देखता है।

पृथिवी अपने केन्द्र पर पूर्व की ओर गति करती है—

दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः।

(ऋ० ७।६६।२)

'सूर्य पृथिवी की पूर्व दिशा को धारण करता है*।' इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पृथिवी पूर्व दिशा की ओर अपने केन्द्र पर चलती है-घूमती है†। साथ में सूर्य से पूर्व दिशा की प्रकटता या ज्ञान होता है पुनः अन्य दिशाओं का भी‡।

इस दैनिक पूर्व की ओर गति से दिन रात बनने हैं इसके लिये देखो 'काल' प्रकरण।

---

* "ककुभ इति दिङ्नाम" (निघं० २। ६।) इमे लोका गौः" (श० ६। ५। २। १७)

† सभी आकाशीय पिण्ड पूर्व की ओर गति करते हैं—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।

पितरं च प्रयन्त्स्वः॥

(ऋ० १०। १८६।१, यजु० ३।६, अथर्व० ६।३१।१, २०।४८।४)

यह गौः—अर्थात् पृथिवी "गौः पृथिवी नाम" (निघं० १। ६) वा पृथिवी आदि लोक 'पुरः—आक्रमीत्—' पूर्व की ओर गति करता हैं, तथा अपने पितरं 'स्वः प्रयन्' पिता सूर्य के "स्वरादित्यो भवति" (निघं० २। १४) भी चारों ओर घूमता हुआ 'मातरं पृश्निः-असदत्' माता अन्तरिक्ष में विराजमान होता है।

‡ अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्याः॥

(ऋ० १। ३५। ८, यजु० ३४। २४)

सूर्य को केन्द्र बनाकर पृथिवी की वार्षिक गति—

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः ।
(अथर्व० ३ । ८ । १)

'मित्रः—उस्रियाभिः पृथिवीं संवेशयन्' सूर्य अपनी किरणों से † पृथिवी को लपेटता हुआ—किरणों से वेष्टन गति में चलाता हुआ—बिस्तरे में जैसे लपेटते हैं ऐसे अपने चारों ओर लपेटा देता हुआ, लुढ़काता हुवा, तथा 'ऋतुभिः कल्पमानः' उसे ऋतुओं के साथ समर्थ अर्थात सम्पन्न करता हुआ ‡ 'आयातु' आवे ।

मन्त्र से स्पष्ट है कि सूर्य निज किरणों द्वारा पृथिवी को अपने चारों ओर लुढकाता घुमाता है और उसे ऋतुओं से सम्पन्न करता है § । इस प्रकार सूर्य को केन्द्र बनाकर पृथिवी का सूर्य के चारों ओर घूमना पृथिवी की दूसरी गति है जो कि वार्षिक गति है इसी गति का परिणाम ऋतुओं की उत्पत्ति है यह भी मन्त्र में कहा ही है । ऋतुएं पृथिवी की वार्षिक गति के परिणाम स्वरूप हैं यह स्पष्ट निम्न मन्त्र में देखें—

---

† 'उस्रियाभिः गोभिः किरणैरित्यर्थः' (सायणः)

‡ 'कल्पमानः कल्पयमानः' अन्तर्गतो णिजर्थः ।

§ सूर्य पृथिवी की ऋतुओं का निर्माण करता है यह वेद में अन्यत्र भी कहा है "पूर्वामनु प्रदिशं पार्थिवानामृतून् प्रशासद्विदधावनुष्ठु" (ऋ० १ । ६५ । ३) पूर्व दिशा में अनुगत हुआ सूर्यरूप अग्नि पृथिवी आदि गोलों का शासन करता है ऋतुओं का विधान अर्थात् निर्माण करता है ।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥
(अथर्व० १२ । १ । ३६)

इस मन्त्र में कहा है कि ग्रीष्म आदि छः ऋतुएं पृथिवी की हैं और वे उसकी 'हायनीः' अर्थात् वार्षिक—वर्ष की गति से उत्पन्न होने वाली हैं। सूर्य के चारों ओर पृथिवी का परिक्रमाकाल वर्ष है अतः उस वार्षिक गति से ऋतुएं पृथिवी पर प्रकट होती हैं। (देखो पृथिवी–चक्र चित्र संख्या १०)

सूर्य के चारों ओर पृथिवी का गतिमार्ग दीर्घवृत्त—

आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः क्षेत्रं यदस्योर्विया दीर्घयाथे ।
(ऋ० ५ । ४५ । ९)

'सप्ताश्वः सूर्यः क्षेत्रम्–आयातु यत्-अस्य-उर्विया दीर्घयाथे' सात किरणों वाला सूर्य उस अपने क्षेत्र को—आकाशीय धरातल को प्राप्त हो जो इसका 'उर्विया' पृथिवी के $ दीर्घयाथ में—दीर्घवृत्त के मध्य में है।

इस कथन में यह अतिस्पष्ट है कि पृथिवी के दीर्घवृत्त के बीच में सूर्य का क्षेत्र अर्थात् आकाशीय प्रदेश या धरातल है। इस प्रकार सूर्य के चारों ओर पृथिवी की इस वार्षिक गति के

$ "उर्वी पृथिवीनाम" (निघं० १ । १) 'इयाडियाजिकाराणामुपसंख्यानम्' से षष्ठी के स्थान में 'डियाच्' प्रत्यय है अत एव टिलोप और चित् का अन्तोदात्तस्वर है।

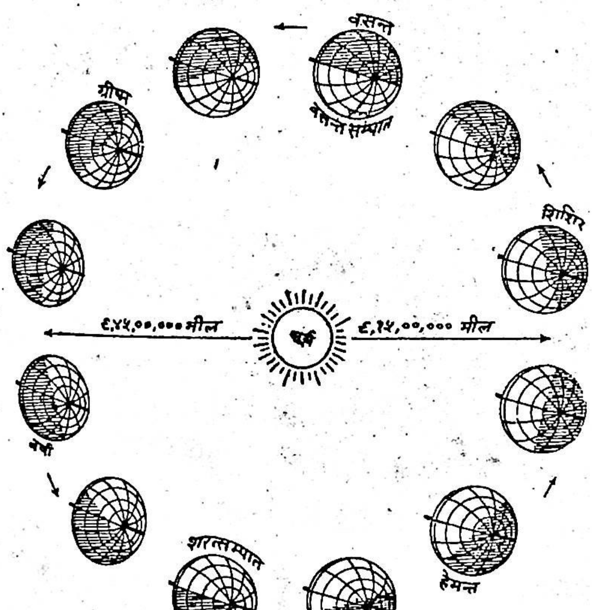
दीर्घवृत्त को पृथिवी का कक्षावृत्त और सूर्य को अपेक्षित एवं लक्षित करके इसे क्रान्तिवृत्त भी कहते हैं† इसी वृत्त में १२ राशि-यां बनती हैं जिन्हें 'राशि' प्रकरण में "द्वादश प्रधयश्चक्र मेकं०" मन्त्र द्वारा कह आए हैं।

सूर्य के धरातल से पृथिवी का धरातल टेढा है या यों कहिये कि पृथिवी सूर्य के सम्मुख अपने अक्ष पर २३½ अंश कोण में आडी है। यह टेढापन ही ऋतुओं का कारण है अन्यथा सर्वत्र ऋतु समान ही होती।

पृथिवी की इस वार्षिक गति के कारण सर्वत्र वर्ष में दो वार दिन रात बराबर होते हैं, एक वसन्त ऋतु के प्रारम्भ में और दूसरे शरद् ऋतु के प्रारम्भमें। इन समयों को वसन्त सम्पात और शरत्सम्पात कहते हैं। इन दोनों समयों में पृथिवी के अपने अक्ष पर आडी होने का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता और सूर्य विषुवद् वृत्त पर दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार जब विषुवद् वृत्त और क्रान्ति वृत्त में २३½ अंश का कोण लक्षित होता है अर्थात सूर्य अधिक से अधिक उत्तर की ओर एवं दक्षिण की ओर लक्षित होता है तब उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव प्रदेशों में एक दूसरे के विपरीत छः छः मास के दिन रात होते हैं। 'सूर्य सिद्धान्त' नामक ज्योतिष ग्रन्थ में कहा भी है—

† सूर्य के चारों ओर पृथिवी की यह वार्षिक गति प्रति सेकण्ड १८ मील बतलाई जाती है।

चित्र संख्या १०



पृथिवी चक्र

मेषादौ देवभागस्थे देवानां याति दर्शनम् ।
असुराणां तुलादौ तु सूर्यस्तद्भागसञ्चरः ॥
अतो दिनक्षेपे तेषामन्योन्यं हि विपर्ययात् ।
अहोरात्रप्रमाणं च भानोर्भगणपूरणात् ॥
(सूर्यसि० १२ । ४५, ५०)

अर्थात् मेष आदि छः राशि पर्यन्त (छःमास पर्यन्त) देव भागस्थ उत्तर ध्रुव प्रदेश में देवों को सूर्य दीखता है एवं तुलादि छःराशि पर्यन्त (छःमास तक) दक्षिण ध्रुव प्रदेश में असुरों को दीखता है अतः उन का दिन रात एक दूसरे से उलटा होता है और वर्ष के आधे आधे भाग अर्थात् छः छः मास के दिन रात होते हैं ।

रविवर्षार्धं देवाः पश्यन्त्युदितं तथा प्रेताः”
(आर्य भट्टीय । गोल पादः । १७)

उत्तर ध्रुव के रहने वाले सूर्य को आधे सौर वर्ष तक-छः मास तक देखते हैं अर्थात् उनके यहां छः मास तक दिन होता है इसी प्रकार प्रेत अर्थात दक्षिण ध्रुव के भी छःमास तक सूर्य को देखते उनके यहां भी छः मास तक दिन रहता है ।

पृथिवी की इस दूसरी गति के विवरण के लिये देखो चित्र...

पृथिवी की तीसरी गति ध्रुव केन्द्र मानकर है उसकी पूरी प्रदक्षिणा का समय लगभग २५६२० वर्ष है मुञ्जात और विष्णु चन्द्र के अनुसार इक्कीस सहस्र वर्ष से कुछ ऊपर है । इस गति को ध्रुव प्रचलन ध्रुवीय अक्षविचलन अक्ष विचलन या सम्पात-

चलन और अयनचलन कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन 'ध्रुव' प्रकरण में कर आए हैं वहां देखें।

भूपृष्ठ और भूप्रदेश—

भूमि के रंग, अंशभेद, प्रदेश भाग; स्तर-परत इन चार बातों का वेदोक्त वर्णन इस प्रकरण में होगा।

भूमि के रंग—

बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवी-
मिन्द्रगुप्ताम्। अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥

(अथर्व० १२।१।११)

'भूरे रंग वाली, कृष्णा, लाल, विश्वरूपा (सब रूपों वाली या शुभरंग वाली चमकदार), भूमि होती है ऐसा इस मन्त्र में कहा है। ये चार रंग भूमि के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अधिकांश में मिलते हैं। इन चार रंगों से अधिक रंग भी कचित् पाए जाते हैं अत एव वेद में इसे बहुत रंगों वाली भी कहा है—

विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम्।

(अथर्व० १।२।१)

यहां पृथिवी को 'भूरिवर्पसम्' कहा है। 'भूरि' अर्थात् बहुत* और 'वर्पस्' का रूप ‡ अर्थ है। अत एव पृथिवी बहुत रूपों वाली है यह आया।

---

* 'भूरि बहुनाम" (निघं॰ ३।१)
‡ "वर्पो रूपनाम" (निघं॰ ३।१७)

पृथिवीपृष्ठ की विषमता—

यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।

(अथर्व० १२ । १ । २)

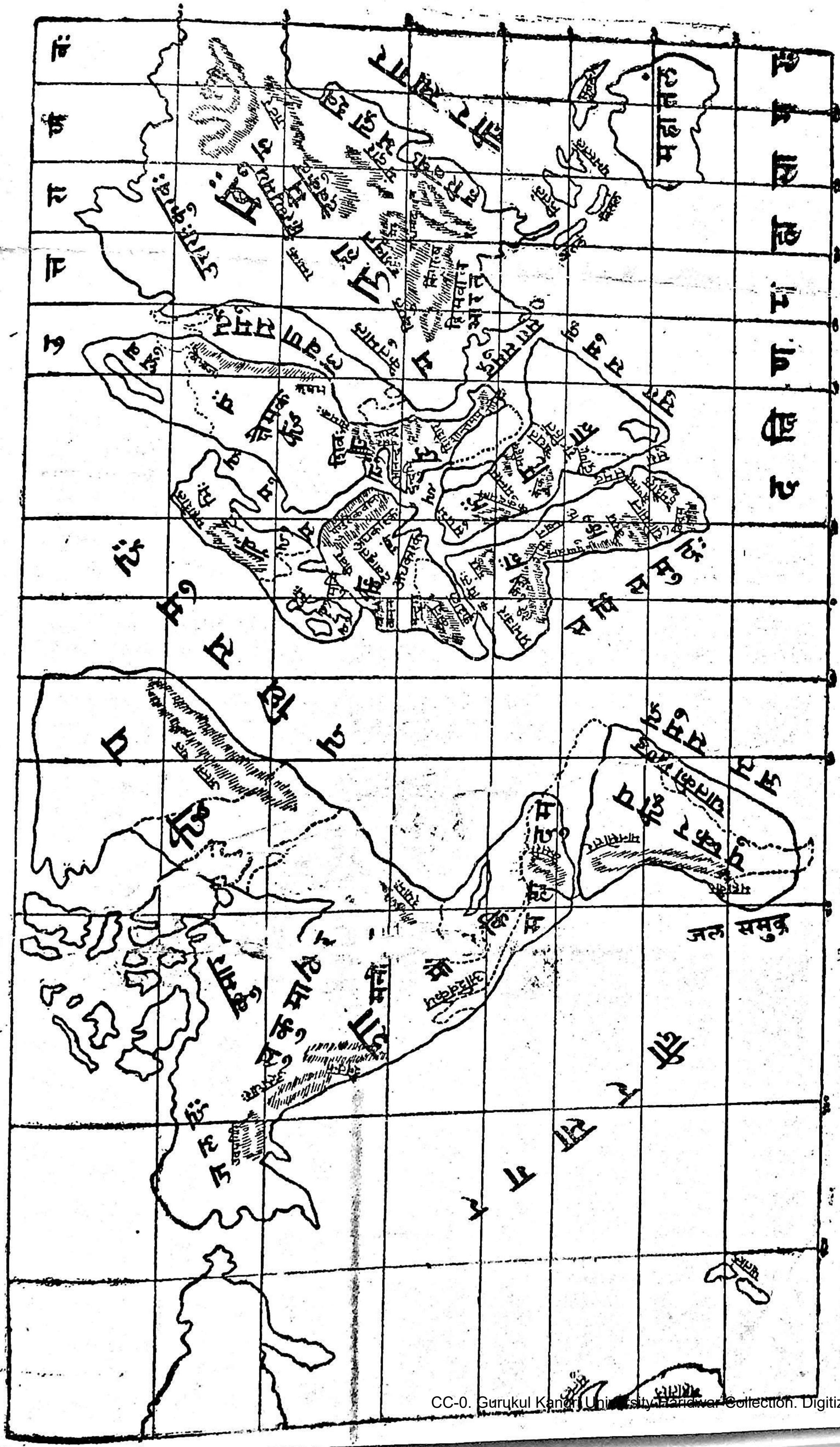
'जिस पृथिवी पर ऊंचा नीचा और समान बहुत है' इस से दर्शाया गया है कि पृथिवी का उपरितल एकसार नहीं है किन्तु इस पर ऊंचातल नीचातल भी है। परन्तु अधिक करके समतल है। ऊंचे तल की चरम सीमा पर्वत और नीचे तल की चरम सीमा समुद्र है, दोनों के बीच में समतल पर्याप्त है। ऊंचे तल में—

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु ।

(अथर्व० १२ । १ । ११)

टीले, साधारण पहाड़, हिमालय ये तीन भेद ऊंचे स्थानों के हैं, इनकी तलाटी में अरण्य जङ्गल भी अपेक्षाकृत समतल भूमि से कुछ ऊंचा होता है । एवं पृथिवी के ऊंचे भाग अरण्य-जङ्गल (पर्वतों की तलाटी में ऊपर वर्षाजल बह आने से स्वाभाविक वनप्रदेश उपत्यका), गिरि (समतल से उद्गीर्ण हुआ ऊपर उठा हुआ मृत्तिका प्रधान श्रेणिरहित ऊंचा प्रदेश), पर्वत-पहाड़ (वह ऊंचा भाग जिनकी श्रेणी चलती है), हिमवान्-हिमालय पहाड़। इस प्रकार ऊंचे भूभाग पृथिवी के ऊंचे पृष्ठ हैं।

नीचे भूभागों में तडाग, नद (झील) और समुद्र हैं इनका वर्णन पृथिवी की उत्पत्ति के साथ करेंगे ।



१ जम्बुद्वीपः—Asia, excluding Asia Minor and Arabia, and the plains to the west of the Yenisei.

१ नववर्षाणि—**Nine principal countries:—**

१ उत्तराः कुरवः—The Tundras and the Forest Belt of Siberia.

२ हिरण्मयं—The south-eastern districts of Siberia, the centre of Aryan civilization from 6000 to 4500 B. C.

३ रम्यकं—The country between the river Yenisei and the lake Balkhash.

४ केतुमालं—Russian Turkistan, 'the birth place of nations'.

५ इलावृतं—Upper Mongolia and Eastern Turkistan.

६ भद्राश्वं—Manchuria. ७ हरिवर्ष—China Proper.

८ किंपुरुषं—Tibet. ९ भारतं—India.

२ प्लक्षद्वीपः—South-east Arabia, Asia Minor and Russia in Europe.

१ सप्त वर्षाणि—**Seven countries:—**

१ शान्तमयं—El Hasa and Oman in Arabia,

२ शिशिरं—Syria. ३ सुखदं—Kurdistan and Armenia.

४ आनन्दं—Turkey in Asia.

५ शिवं—South Russia in Europe and Ukraine.

६ क्षेमकं—Great Russia in Europe.

७ ध्रुवं—North Russia and Novaya Zemlya.

१ सप्तवर्षपर्वताः—**Seven mountains of the seven countries.**

१ गोमेद—Jebel Akhdar—Green Mountain in शान्तमय

२ चन्द्र—Lebanon—White Mountain, in शिशिर

३ नारद—Ararat, the loftiest peak in Asia minor, rising to the height of 16916 feet, in सुखद

—: THE MAP EXPLAINED :—

भूसंस्थानम्—The Ancient World in The Time Of The Empepr Kartavirya Arjuna, 6400 B. C.

दुन्दुभि—Taurus, in आनन्द.
सोमक—Caucasus, in शिव. ६ सुमनाः—Ural, in ...
वैभ्राज—The northern extension of the Ural in ध्रुव.

३ सप्तनद्यः—**Seven rivers, one in each country:—**
अनुतप्ता, शिखी, विपाशा, त्रिदिवा, क्रमु, अमृता, सुकृता.

३ शाल्मलद्वीपः—The Eastern Africa with the foundered ancient Continent of Gondwana, also called Lemuria.

१ सप्त वर्षाणि—**Seven countries:—**
१ श्वेतं—, २ हरितं—, ३ जीमूतं— } The countries of the foundered aucient Continent of Gondwana or Lemuria.
४ रोहित—Tanganyika, some part of Gondwana and Somaliland.
५ वैद्युतं—Kenya and Uganda. ६ मानस—Abyssinia
७ सुप्रभं—Anglo Egyptian Sudan and Libya.

२ सप्त वर्षपर्वताः—**Seven mountains of the Seven countries:—**
१ कुमुद —, २ उन्नत —, ३ बलाहक } The mountains of the foundered ancient continent of Gondwana or Lemuria.
४ द्रोण—Livingstone, in रोहित
५ कङ्क—Elgan. Kenya and Kilimanjaro, in वैद्युत. They are extinct volcanoes.
६ महिष—Ras Detchen, active volcano 4600 B.C., in मानस.
७ ककुद्मान्—Marra mountains, in सुप्रभ

३ सप्त नद्यः—**Seven rivers, one in each country:—**
योनी, तोया, वितृष्णा, चन्द्रा, शुक्ला, विमोचनी, and निवृत्तः

४ कुशद्वीपः—The Southern and Western Africa.

१ सप्त वर्षाणि—**Seven countries:—**
१ उद्भिदं—Cape Colony.
२ वेणुमत्—Natal, Orange Free State & Transval
३ वैरथ—S. W. Africa and Bechuana Land.
४ लम्बनं—Portuguese West Africa, Congo and French Equatorial Africa.
५ धृति—The country between the lake Chad and the river Niger.
६ प्रभाकरं—Western Africa.
७ कपिल—The country north of the lake Chad upto the Sahara.

२ सप्त वर्षपर्वताः—**Seven mountains of the Seven countries:—**
१ विद्रुम—Ruwenzore Mountains, in उद्भिद
२ हेमशैल—Drakensburg Range, in वेणुमत.
३ द्युतिमान्—Jenker Afrikander Mts., in वैरथ,
४ पुष्पवान्—Lovili, in लम्बन.
५ कुशेशय—Cameroon, in धृत.
६ हरि—Kong Mts., in प्रभाकर The mountain range of Sierra. Leone (Lion Hill)
७ मन्दर—Tibesti, in कपिल.

३ सप्त नद्यः—**Seven rivers one in each country:—**
धूतपापा, शिवा, पवित्रा, सन्मति, द्युतिः, गर्भा and मही.

५ क्रौञ्चद्वीपः—North Africa and Europe, excluding Russia in Europe.

१ सप्त वर्षाणि—**Seven countries:—**
१ कुशलं—Morocco and Algeria.
२ मन्दगं—Portugal, Spain and the foundered land upto Corsica and Sardinia.
३ उष्णं—The country from Corsica and Sardinia upto the Black Sea.
४ पीवरं—France, Switzerland, Austria, and some part of Germany.
५ अन्धकारकं—Hungary and Czecho Slovakia.
६ मुनि—Great Britain, Ireland, Belgium, Holland Denmark, Prussia and the Foundered land of the North Sea.
७ दुन्दुभि—Scandinavia, Lapland, and the Foundered land of the North Sea.

२ सप्त वर्षपर्वताः—**Seven mountians of the Seven countries:—**
१ क्रौञ्च—Atlas Mts., in कुशल.
२ वामन—Pyrenees, in मन्दग.
३ अन्धकारक—Apennine, in उष्ण.
४ देवावृत्—Alps, in पीवर.
५ पुण्डरीकवान्—Carpathian, in अन्धकारक.
६ दुन्दुभि—Grampion Mts., in मुनि.
७ महाशैल—Scandinavian Mts., in दुन्दुभि.

३ सप्त नद्यः—**Seven rivers, one in each country:—**
गौरी, कुमुद्वती, सन्ध्या, रात्रिः, मनोजवा, क्षान्ति and पुण्डरीका.

शाकद्वीपः—North America, Greenland, Central America, West Indies, Equador, Colombia and Venezuela.

१ सप्त वर्षाणि—**Seven countries:—**
१ जलदं—Alaska.
२ कुमारं—The Tundras of Canada, characterised by great lakes.
३ सुकुमारं—Canada ४ मनीचकं—United States.
५ कुसुमोदं—Labrador extending upto Greenland.
६ मौदाकि—Mexico, Central America, and West Indies.
७ महाद्रुमं—Equador, Colombia and Venezuela.

२ सप्त वर्षपर्वताः—**Seven mountains of the seven countries:—**
१ उदयगिरि—Mc. Kinley, at 140° longitude west of Greenwich. in जलद.
२ जलाधार—Coast Range of the Pacific, in कुमार.
३ रैवतक—Roaky, in सुकुमार. (यत्र नित्यं रेवती प्रतिष्ठिता).
४ श्याम—Alleghany Mts., which attain a height of 6707 feet in their summit Black Dome Mt., in मनीचक.
५ अस्तगिरि—The Appalachian Mts, extending from Labrador to Greenland, from 80° to 20° longitude west of Greenwich in कुसुमोद.
६ अम्बिकेय—Sierra Nevada, in मौदाकि.
७ केसरी—North Cordilleras, in महाद्रुम.

३ सप्त नद्यः—**Seven rivers, one in each country:—**
सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, धेनुका, इक्षुः, वेणुका, तथा गभस्ती.

७ पुष्करद्वीपः—South America From the river Amazon to La Plata,

१ वर्षद्वयं—**Two countries:—**
१ महावीरं—Chile, with the foundered land of the Pacific
२ धातकीखण्डं—Brazil, Bolivia, Paraguay Urugnay and Argentine Republic, with Foundered land of the Atlantic.

२ वर्षपर्वतः—मानसोत्तरः—**The Andes between महावीर and धातकीखण्ड.**

८ सप्तसमुद्राः—Seven seas.
१ लवणसमुद्र—The lower plains of Siberia, Caspian Sea, and the western Persia.
२ इक्षुसमुद्र—The Baltic Sea, the eastern Prussia, the Black Sea, and the eastern Mediterranean Sea.
३ सुरासमुद्र—The Red Sea, and the Sea between शाल्मल and कुश.
४ सर्पिःसमुद्र—the Atlantic.
५ दधिसमुद्र—The Sea between Greenland and Scandinavia.
६ क्षीरसमुद्र—The Pacific
७ जलसमुद्र—The South Atlantic.

९ सप्तपातालानि—Oceania.
१ अतलं—Sumatra. २ वितलं—Borneo. ३ नितलं—Java.
४ गभस्तलं—Celebes. ५ महातलं—Australia.
६ सुतलं(श्रीतलं)—New Guinea.
७ पातालं—New Zealand.

इस मन्त्र में 'भूमि के शिला (चट्टान), अश्मा (पत्थर), पांसु-चूर्णभाग (रेत धूली) ये तीन भाग कहे हैं, इन तीन भागों से दृढ सङ्गठित एवं आच्छादित यह भूमि है। इस क्रम से यह विदित होता है कि सब से ऊपर पांसु-चूर्ण (रेत धूली) इसके नीचे अश्मा (पत्थर) और पत्थरों के नीचे शिला (चट्टान) होती हैं। ये तीन भाग पृथिवी के क्रमशः तीन स्तर-परत या तह । इन्हें पृथिवी के पांसुस्तर, अश्मस्तर, शिलास्तर या नाम से तीन स्तर या तीन भूमियां-भूमिकाएं कह सकते हैं। पांसुरूप प्रथम स्तर या भूमि पर ओषधिवनस्पतियां उगती हैं। वेद में अन्यत्र यह सिद्धान्त स्पष्ट दिया भी है—

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥
(अथर्व० ६।२१।१)

अर्थात् 'ये जो तीन पृथिवी हैं उनमें जो ऊपर वाली भूमि है इस उनकी त्वचारूप आवरणरूप उपरि भूमि से मैं भेषज-ओषधि वनस्पति ग्रहण करता हूं।'

ऊपर के पांसुरूप (चूर्ण धूलरूप) स्तर या परत में ओषधि वनस्पतियां उगती हैं यह आया। दूसरे अर्थात् मध्य के अश्मस्तर में स्वर्ण आदि धातुएं हीरा आदि मणियां उत्पन्न होती हैं यह अभी बतलाने वाले हैं और तीसरे शिलास्तर में गन्धक आदि आग्नेय पदार्थ रहते हैं यह भी आगे कहेंगे। मध्य के अश्मस्तर

भूप्रदेश विभाग—

तिस्रो भूमिरुपराः षड्विधानाः ।

(ऋ० ७ । ८७ । ५)

'पृथिवी की उपरी तीन परतें (शिला, अश्मा, पांसु के भेद से भूगर्भ प्रकरण में बतलाने वाले हैं वे) स्वाभाविक रूप से 'षड्विधानाः' छः भूप्रदेशनामों वाली हैं।' यहां मन्त्रमें ऐसा कहा है।

मन्त्र के उक्त कथन से तीन परतों के स्वाभाविक उच्च नीच रूपों से पृथिवी गोल के छः प्रदेश हो जाते हैं जो कि उपरिस्तर पर छः स्वाभाविक महाप्रदेशों या महाद्वीपों में व्यक्त होजाते है। वेद ने छः महाप्रदेशों या महाद्वीपों का निर्देश किया है। ये ही व्याकरण महाभाष्यकार की दृष्टि में सात द्वीप हैं "सप्तद्वीपा वसुमती" (महाभाष्यव्याकरण । १ । १ । ११) प्राचीन आर्य भूगोल विज्ञान के वेत्ता एवं भूप्रदेश विभाग के प्रवर्तक थे यह उक्त वचन से स्पष्ट होता है। वे सप्त द्वीप निम्न प्रकार हैं—
(१) जम्बु द्वीप (२) प्लक्ष द्वीप (३) शालमल द्वीप (४) कुश द्वीप (५) क्रौञ्च द्वीप (६) शाक द्वीप (७) पुष्कर द्वीप। इन द्वीपों के विशेष परिचय के लिये साथ दिया चित्र पट देखें।

(देखो भूसंस्थान, चित्र संख्या ११)

भूगर्भ—

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।

(अथर्व० १२ । १ । २६)

में स्वर्ण आदि धातुएं और हीरा आदि मणियां होती हैं यह देखिये—

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी दधातु मे ॥

(अथर्व० १२ । १ । ४४)

इस मन्त्र में कहा है कि 'पृथिवी अपनी गुहा में—कन्दरा में बहुत प्रकार के निधि—कोश खजाने धारण करती हुई मुझे धन मणि, सोना आदि दे'।

शिलास्तर अर्थात् चट्टानोंवाली परत से सम्बन्ध रखते हुए गन्धक आदि आग्नेय पदार्थ होते हैं उनके कुपित-विचलित होजाने या प्राकृतिक परिवर्तन के कारण उपर्युक्त स्तरों परतों में भूकम्प आदि अनेक घटनाएं होजाती हैं। 'अद्भुत ब्राह्मण' में कहा है—

पृथिवी तटति स्फुटति कूजति कम्पति।
ज्वलति रुदति धूमायति॥

(अद्भुत ब्राह्मण । ७)

इस वचन में भूमि के सात परिणामों एवं विकारों का वर्णन किया है जिनका शिलामय चट्टान स्तर से प्रारम्भ होता है। वे परिणाम या विकार हैं 'तटति' पृथिवी स्तर या परत के रूप में परिणत होती एवं ऊपर उठती है, 'स्फुटति' पृथिवी फट जाती है, 'कूजति' गूञ्जती है सनसनाहट या गरगराहट आदि

अव्यक्त नाद करती है, 'ज्वलति' जल उठती है अन्दर से ज्वाला निकालती है ज्वालामुख बनाती है, 'रुदति' अन्दर से द्रव पदार्थ मिट्टी का तेल आदि निकालती है, 'धूमायति' अपने अन्दर से धूम निकालती है किन्हीं वस्तुओं को धूम जैसे (गैसे के) रूप में बाहर स्फुरित करती है।

उपर्युक्त बातों के कारण पूर्व कही हुई पृथिवी की तीनों स्तरों परतों में नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। पृथिवी की उक्त तीनों परतें तो प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। केवल ये तीन ही परतें पृथिवी की नहीं हैं किन्तु वेद में सात परतें कही हैं इन तीन से भिन्न चार परतें और हैं जिनका प्रत्यक्ष भूगर्भ शास्त्री नहीं कर सके हैं। इन सब सातों परतों को पार करके पृथिवी के गर्भ एवं केन्द्र की पार्थिव अग्नि या पार्थिव तरङ्ग बाहर आती है यह बात निम्न वेद मन्त्र में कही है—

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्याः सप्त धामभिः॥

(ऋ० १।२२।१६)

अर्थ—(विष्णुः पृथिव्याः सप्त धामभि-यतः-विचक्रमे) पृथिवी गर्भस्थ पार्थिव तत्त्व बल पृथिवी के सात धामों-परतस्थानों के द्वारा जिस स्थान या भाग से विक्रान्ति करता है-विशेष घटना घटाता है अनभीष्ट कार्य करता है (अतः-देवाः-नः-अवन्तु) उस भाग या स्थान से देव भौतिक देव या विद्वान् जन हमारी रक्षा करें।

यहां मन्त्र में सूचित किया है कि पृथिवी के अन्दर का

आग्नेय पदार्थ या पार्थिवतत्व बल पृथिवी के सात परतों में को गुजरता हुआ बाहर आता है वह कोई न कोई विशेष घटना घटाता है, उसी घटना के परिणाम स्वरूप पृथिवी पर टीले, पर्वत, ज्वालामुख, झरने, झील, समुद्र, द्वीप आदि हैं। इस प्रकार उक्त सात परतें पृथिवी गोल के अन्दर कही हैं, प्रत्येक नैसर्गिक गोल वस्तु स्तरों परतों से बनता है चाहे वे परतें किसी गोल की सूक्ष्म हों या स्थूल हों, अत एव पृथिवी गोल की भी परतें होना आवश्यक है।

पृथिवी की आकर्षण शक्ति—

पृथिवी में आकर्षण शक्ति है इसकी आकर्षण शक्ति का कार्य पृथिवीस्थ पदार्थों में देखने में आता है, कभी-कभी आकाशीय उल्काएं जब जलती-जलती और चलती चलती ठण्डी हो जाती हैं तब उनके लोह आदि पार्थिव पदार्थ पृथिवी की ओर आकर्षित होकर पृथिवी पर गिर पड़ते हैं। पृथिवी से ऊपर फैंका हुआ ढेला पत्थर आदि या ऊपर से छोड़ा हुआ पदार्थ भी पृथिवी पर आ गिरता है।

पृथिवी में आकर्षण शक्ति पृथिवी के केन्द्र से सब ओर चलती है, आकर्षण का बिन्दु केन्द्र है कारण कि पार्थिव अग्नि का केन्द्र से प्रसार होता है केन्द्रस्थ अग्नि ही आकर्षणकारक है यह कहा जा सकता हैं। केन्द्र से अग्नि मध्य परतों में और बाह्यस्तर तक आती है। वेद में कहा है—

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः। अरुषो जातः ॥

(ऋ० १०। १। ६)

'रुपेले नानारंगों वाले ज्वालावरणों को धारण करने वाला वह अग्नि पृथिवी के केन्द्र में उत्पन्न हुआ है'। पृथिवी के केन्द्र से ही आकर्षण बल चलता है जो कि केन्द्र से मध्य और बाहरी परतों तक आता है, इस आकर्षण बल को वेद में 'ऊर्ज्' नाम से कहा है—

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः सम्बभूवुः। तासु नो धेहि० ॥

(अथर्व० १२। १। १२)

'हे पृथिवि ! जो तेरा 'नभ्य' केन्द्र-केन्द्र का बल, जो 'मध्य'-मध्य का बल और जो 'तन्वः' बाहरी परत के 'ऊर्जः' बल हैं उनमें हमें धारणकर'। पृथिवी हमें अपने आकर्षणबल के अधीन रखती है इस से यह सिद्ध होता है। अत एव हम पृथिवी से अलग नहीं हो सकते।

पृथिवी प्रत्येक भारी भारवाली वस्तु को धारण करती और अपनी ओर आकर्षित करती है—

बिभर्ति भारं पृथिवी न भूम।

(ऋ० ७। ३४। ७)

पृथिवी भार को धारण करती है, भार-भारवाली वस्तु को

पृथिवी अपने ऊपर धारण करती है, अतएव कोई वस्तु पृथिवी से ऊपर जाकर पुनः पृथिवी पर आजाती है। वास्तव में विकार अपने कारण की ओर खिचता है बस यही आकर्षण है या आकर्षण का सिद्धान्त है। न्यूटन ने ही आकर्षण सिद्धान्त का आविष्कार किया है ऐसा नहीं किन्तु सहस्रों वर्ष पूर्व प्राचीन आर्य इस से परिचित थे। 'महाभाष्य व्याकरण' में कहा है कि लोष्ठः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यगागच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छति" ॥ (महाभाष्य व्याकरण। १।१।७) अर्थात् मिट्टी का ढेला ऊपर फेंका हुआ बाहुवेग को पूरा करके नहीं टेढा जाता है और न अधिक ऊपर चढ़ता है किन्तु पृथिवी का विकार होने से पृथिवी पर ही आता है।' इस से आकर्षण का यह सिद्धान्त निकला कि जो जिसका विकार होता है वह उसकी ओर आकर्षित होता है इसी कारण ज्वाला या दीपशिखा सूर्य रूप ज्योति का विकार होने से ऊपर जाती है।

पृथिवी में आकर्षण शक्ति है यह 'सिद्धान्त शिरोमणि' ज्योतिष ग्रन्थ में भी कहा है—

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात्क पतत्वियं खे॥
(सिद्धान्त शि० भुवनकोशः ६)

अर्थात् पृथिवी में आकर्षण शक्ति है, उस से ऊपर की भारी वस्तु को अपनी ओर आकर्षित करलेती है उक्त वस्तु गिरती हुई सी लगती है।

अब पृथिवी, समुद्र तथा जीवसृष्टि की उत्पत्ति पर संक्षेप में वेद मन्त्रों द्वारा लिखते हैं।

उत्पत्ति समय पृथिवी की पूर्व स्थिति—

यार्णवेधि सलिलमग्र आसीद्० ।

(अथर्व० १२ । १ । ८)

इस मन्त्र में कहा है कि 'आरम्भ में पृथिवी जल के अन्दर जलरूप थी।' एवं इसके सब ओर जल ही जल था। उस समय इसके समस्त भाग व्यथमान थे-उथलपुथल कर रहे थे। कहा भी है—

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात् ।

(ऋ० २ । १२ । २, अथर्व० २० । ३४ । २)

पृथिवी व्यथमान थी-उथल पुथल कर रही थी और पर्वत भी प्रकुपित थे वे ऊपर आने की चेष्टा कर रहे थे फिर इन्द्र उत्तरीय ध्रुव एवं सूर्य के आकर्षण से विद्युद्रूरे पार्थिव भाग पर्वत भूवृत्त से ऊपर उठकर स्थिर होगये और पृथिवी जलरूप से ठोसरूप में दीखने लगी। इस प्रकार उत्तर में पृथिवी भाग के खिच जाने से दक्षिण में महागर्त होगया और वे प्रारम्भ के आच्छादक जल केन्द्रीय आकर्षण से भूवृत्त को पूरा करने के लिये उस महागर्त में जा गिरे जो कि समुद्र रूप में प्रसिद्ध होगया क्योंकि समुद्र भूवृत्त के सूत्र में वर्तमान है या पृथिवी-वृत्त के समतल में है अतएव समुद्रतल से ही पर्वत आदि प्रदेश को

ऊंचाई मापी जाती है। जल समतल बनाते हुए बहते हैं। यह वेद में कहा भी है—

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं चरन्ति।
(अथर्व० १२।१।६)

'पृथिवी पर जो गतिशील 'समानीः' समधरातल बनाते हुए दिन रात निरन्तर बहते रहते हैं' जलों में समधरातल बनाने का स्वभाव है बहते हुए जलों के सामने गड्ढा आजावे तो उसे भर कर समधरातल (Level) बनाकर आगे बढ़ते हैं अतएव उस महागर्त तक पहुंच उसे भर कर समुद्र रूप में परिणत कर समधरातल बनाते हैं।

भूसमुद्र—

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो०।
(अथर्व० १२।१।३)

अर्थात 'जिस पृथिवी पर समुद्र, नद, (झील) और जल हैं।' समुद्र भी पृथिवी पर है ऐसा यहां स्पष्ट होता है इस से यह सिद्ध होता है कि जो एक भाग पृथिवी और तीन भाग जल की बात है वह पृथिवी के बाह्यपृष्ठ सम्बन्धी व्यवस्था है अर्थात् पृथिवी का दीखनेवाला बाह्यपृष्ठ एक भाग है और शेष तीन भागों पर समुद्र फैला हुआ है। समुद्र की गहराई अधिक से अधिक एकत्तीस हजार फुट अर्थात् लगभग छःमील है परन्तु पृथिवी का व्यास आठ हजार मील है अतः पृथिवी समुद्र से बहुत बड़ी है। समुद्र तो उसके बाह्यपृष्ठ पर ही फैला हुआ है।

समुद्र में वायु के कारण सदा आवर्त आते रहते हैं किन्तु ज्वारभाटा (तट की ओर जल का बढाव ज्वार और तट से हटना या घटाव भाटा) चन्द्रमा के बढ़ने घटने के कारण आया करता है † परन्तु समुद्र से जलमय वायुएं (सूक्ष्मभाप या मांसून) सूर्य के कारण उठा करती हैं । वेद में कहा है—

उदोरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपःपृथिवीं तर्पयन्तु ॥

(अथर्व० ४ । १५ । ५)

अर्थात् समुद्र से हवाएं उठती हैं सूर्य के प्रति जल को उड़ाती हैं पुनः उन से मेघ बनकर वृष्टिजल शब्द करते हुए पृथिवी को तृप्त करते हैं-सिञ्चित करते हैं ।

पृथिवी पर समुद्र अनेक हैं—

द्यौर्देवेभिः पृथिवी समुद्रैः ।

(ऋ० ६ । ५० । १३)

यहां पृथिवी का अनेक समुद्रों से सम्बन्ध दर्शाने से पृथिवी पर समुद्र अनेक हैं यह स्पष्ट होता है ।

---

† वेलादोलानिलचलं क्षोभोद्वेगसमुच्छ्रितम् ।
वीचीहस्तैः प्रचालितैः नृत्यन्तमिव सर्वतः ॥
चन्द्रवृद्धिक्षयवशादुद्वृत्तोर्मिसमाकुलम् ।
(महाभारत । आदि० २ । १०-११)

पृथिवीतल पर आरम्भिक जीवसृष्टि—

पृथिवी जब जल के अन्दर से बाहर उभरी अर्थात् प्रथम प्रथम पर्वतीय भूभाग के ऊपर उठ जाने से तथा दक्षिण में समुद्र रूप महागर्त की ओर जलप्रवाह के चलते रहने से * उत्तर में जो ऊंचा पर्वतीय भूभाग बाहर प्रकट हुआ उस पर प्रथम मनुष्य आदि जीव सृष्टि हुई। हम प्रत्यक्ष देखते हैं जल में डूबी हुई भूमि का जो भाग जल के सूखते रहने से ऊपर उभरता है उसी पर घास मच्छर चींटी आदि की सृष्टि होती है। इस बात को आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है कि आरम्भिक जीव-सृष्टि कहीं ऊंचे स्थान पर ही हो सकती है वह स्थान त्रिविष्टप (तिब्बत) हो सकता है। वेद में कहा है—

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधिविष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥

(अथर्व० १८।४।४)

तीन अग्नियां—अग्नि विद्युत्-सूर्यरूप तीन देवता जीवों के विष्टप अर्थात प्रवेशस्थान में आश्रित हैं जिनमें दो विद्युत्-और सूर्य तो उस सुखमय पृष्ठ भूमि के उच्चपृष्ठ पर मेघ को बनाते हैं जहां कि सुख सुगाने वाले दर्शनीय अग्नि आदि देव अपने अमृत धर्म से जीवरूप यजमान के लिये अन्न-रस-शुक्रशोणित-वीर्यरज का दोहन करते हैं।

* "दक्षिणप्रवणा भूमिर्दक्षिणत आपो वहन्ति" (गोपथ. १ पू.।२।१)

इस प्रकार वह उच्च प्रदेश 'त्रयाणां विष्टपम्-त्रिविष्टपम्' अग्नि आदि तीनों प्रधान देवों का विष्टप् होने से त्रिविष्टप है। 'नारायणोपनिषद्' में भी कहा है—

उत्तमे शिखरे जाते भूम्यां पर्वतमूर्ध्नि ।
ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुजाता गच्छ देवि यथासुखम् ॥
स्तुता मया वरदा माता प्रचोदयन्ती पवने द्विजाता ।
आयुः पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा प्रयातु ब्रह्मलोकम् ।

(नारायणोप० । २६)

'पर्वतमूर्धा अर्थात् हिमालय के ऊंचे शिखर पर प्रकट हुए भूभाग में ब्राह्मणों आदि ऋषियों द्वारा आविर्भूत हुई वेदमाता देवी ! संसार का सुख जिस प्रकार हो सके उस प्रकार तू संसार में फैल'। अस्तु।

अब यह देखना है कि उस समय प्रथम मनुष्य सृष्टि या जीव सृष्टि पृथिवीतल पर कैसे हुई ? यह एक बड़े कौतुहल का विषय है क्योंकि उस समय माता-पिता तो थे ही नहीं । वास्तव में प्रारम्भ में बिना माता-पिता के मनुष्य आदि की अमैथुनी सृष्टि हुई । यह कोई असम्भव या अचम्भे की बात नहीं जीवोत्पत्ति के प्रारम्भिक नियम की बात है। आजकल भी तो मैथुनी सृष्टि के अतिरिक्त अमैथुनी सृष्टि भी देखने में आती है। मनुष्य आदि जरायुज और अण्डज और प्राणियों की मैथुनी सृष्टि तथा कृमियों की अमैथुनी। अण्डजों में भी मेण्डक आदि क्षुद्र जन्तुओं की भी वर्षा ऋतु में अमैथुनी होती है। मध्यकाल में

समुद्र से निकले हुए छोटे छोटे द्वीपों में जहां कि हाल में योरोप या भारत से जाकर मनुष्यों ने वसासत की है ऐसे निर्जन स्थानों में जरायुज सिंह गौ, कुत्ता, बिल्ली आदि पशु तो पाए गये हैं यह इन मध्यकालीन द्वीपों में उक्त पशुओं की अमैथुनी सृष्टि ही हुई यह समझना चाहिए। एवं सृष्टि के प्रारम्भ में जरायुजों में प्रमुख मनुष्य सृष्टि भी अमैथुनी हुई यह यथावत् सम्भव है। आजकल मनुष्य सृष्टि अमैथुनी इसलिये नहीं होती कि पृथिवी की वह उत्पादन शक्ति नहीं रही जो पहिले थी। यह तो स्पष्ट ही है कि माता प्रारम्भ में (अपने यौवन में) योग्य सन्तान उत्पन्न करती है पुनः वह क्रमशः उससे अयोग्य निर्बल सन्तान जनती है और वृद्धा होजाने पर तो अतीव निर्बल उत्पन्न करती है या उत्पन्न ही नहीं करसकती। यही बात यहां जाननी चाहिये, प्रारम्भ में पृथिवी माता का यौवन काल होता है वह उस समय जीवों में सब से योग्य मनुष्य जैसे सन्तान को उत्पन्न करती है पुनः उसकी शक्ति नष्ट होते होते आज-कल केवल वर्षा ऋतु में ही मात्र क्षुद्र जन्तुओं की अमैथुनी सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति रह गई है आगे चलकर यह भी न्यून होजावे या न जाने रहे ही न।

अब यह देखना है कि मनुष्य आदि उक्त अमैथुनी सृष्टि पृथिवी तल से कैसे हुई। इसके लिये वेद में कहा है—

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदा † युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात् ‡॥
उच्छ्वंचस्व पृथिवी मा निवाधथाः सूपायनास्मै सूपवंचना§ ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥
उच्छ्वंचमाना पृथिवी सुतिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाःसन्त्वत्र ॥

ऋ० १० । १८ । १०–१२, अथर्व० १८ । ३ ४९–५१)

अर्थ—(एताम्–उरुव्यचसं सुशेवां भूमिं पृथिवीं मातरम्-उप सर्प) हे जीव ! तू सृष्टि में जन्म पाने के लिये बहुविध जीवदेहों को प्रकट करने वाली सुखदायिनी इस पृथिवी भूमिरूप माता को प्राप्त हो (दक्षिणावते-एषा युवतिः-ऊर्णम्रदाः) बीजभाव से निज समर्पण करने वाले के लिये * यह युवति ऊन जैसी मृदु हो जाती है (त्वा निर्ऋतेः-उपस्थात पातु) तुझे विपत्ति के आश्रय से बचावे । या (पुरस्तात् प्रपथे त्वा पातु) पूर्व प्रथम सृष्टि के पथाग्र पर तेरी रक्षा करे ॥ ४९ ॥

(पृथिवि-अस्मै-उच्छ्वञ्चस्व मा निवाधथाः सूपायना सूपवञ्चना

---

† ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावत० इति पाठो अथर्व वेदे ।

‡ पातु प्रपथे पुरस्तात् इति पाठोऽथर्ववेदे ।

§ सूपसर्पा इति पाठो ऽथर्ववेदे ।

* "त्यागो दक्षिणा" (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् । ४)

भव) तथा हे पृथिवी ! तू इस जीव के लिये पुलकितपृष्ठा-उफनी हुई होजा † बाधा या रुकावट न डाल किन्तु इसके लिये भली प्रकार उपयुक्त और उसके उभरने के योग्य हो (भूमे माता पुत्रं यथा सिचा-अभ्येनम्-ऊर्णु हि) हे भूमि ! माता जैसे पुत्र को दुग्धरस-सेचन पार्श्व से आश्रय देती है ऐसे इसे भी आश्रय दे ।५०।

(उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सुतिष्ठतु । पुलकितपृष्ठा-उफनी हुई पृथिवी भली प्रकार हो । उसके अन्दर (मितः-गृहासः सहस्रं हि उपश्रयन्ताम्) जीव शरीर के निर्माण करने वाले गृह-कोश-गर्भ कोश सहस्रों ही आश्रय देने वाले बने तैयार हों (ते-अस्मै घृतश्च्युतः स्योनाः-अत्र शरणाः सन्तु) वे गर्भकोश-गर्भकोष्ठ इस के लिये रसपूर्ण सुखकारक यहां शरण हों ।। ५१ ।।

आशय—आरम्भ सृष्टि में जीवों की माता एक मात्र पृथिवी ही होती है उस समय मनुष्यों की भी अमैथुनी सृष्टि होती है, नाना भेदों से मनुष्य आदि का प्रादुर्भाव होता है । और पृथिवी का बाह्यतल ऊन के समान मृदु (कोमल) होजाता है तथा सान्द्र उफना हुआ पोला सा बन जाता है, जिस से जीवगर्भ बढ़ सकें और फिर पूर्ण होते ही बाहर प्रकट करने में पृथिवी योग्य होजाती है साथ ही बाहर प्रकट कर अपने रसभरे प्रदेश से उसका पालन करती है अतएव उस समय जीव सब प्रकार से आहाररसग्रहण करने में समर्थ अपनी कुमार अवस्था में उत्पन्न

† 'उच्छ्वञ्चस्व-उच्छ्वञ्चमाना पुलकिता भव (सायणः) ।

होते हैं। कुछ काल तक पृथिवी की यह उफनी हुई स्थिति बनी रहती है उसी स्थिति में असंख्य जीवगर्भ इकट्ठे रहते हैं जिन में स्वाभाविक रसों से जीवों को पोषण होता है। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में इन्द्रगोप (वीर बहूटी) आदि क्षुद्र जन्तु भी पृथिवी से बाहर अपनी कुमार अवस्था में ही प्रकट होते हैं। उस समय भी पृथिवी कुछ मृदु और पुलकितपृष्ठ-उफनी हुई होजाती है उस मृदु पुलकित स्तर में इन्द्रगोप आदि क्षुद्र जन्तुओं के गर्भ बनते हैं।

पृथिवी गर्भ धारण करती है यह अन्यत्र भी वेद में कहा है—

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।

(अथर्व० ५। २५। २, ६। १७। १)

'जैसे यह महती पृथिवी गर्भधारण करती है'। यहां पृथिवी का गर्भधारण करना स्पष्ट है।

पृथिवी जीवों के लिये ओषधिरस रिसाती है यह भी अन्यत्र वेद में बतलाया है—

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।

(अथर्व० १२। १। १०)

'वह भूमि माता मुझ पुत्र के लिये 'पयः' ओषधिरस रिसावे'।

पृथिवी पर नाना प्रकार के भिन्न भिन्न भाषा वाले मनुष्य आदि प्राणी हुए—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

(अथर्व० १२। १। ४५)

अर्थ—(विवाचसं नानाधर्माणं यथौकसं जनं बहुधा बिभ्रती) विविध भाषा एवं बोली वाले नाना स्वभाव वाले यथा स्थान में मनुष्य या जातमात्र प्राणिवर्ग को धारण करती हुई पृथिवी (ध्रुवा-इव धेनुः-अनपस्फुरन्ती द्रविणस्य धाराः मे दुहाम्) स्थिर तथा न भड़कने वाली या न मारने वाली* दुधारी गौ की भांति मेरे लिये अन्नरस की सहस्र धाराओं को दुहे।

इस मन्त्र में 'जन' शब्द का अर्थ मनुष्य होने से मनुष्यों की भिन्न भिन्न भाषाएं देशभेद से और नाना स्वभाव तथा आकार आदि के भेदों से उपजातियां वर्णन की हैं ऐसा जानना चाहिये।

---

* "स्फुर स्फुरणे" (भ्वादि०)
"स्फुरति वध कर्मा" (निघं० २।६।

वैदिक ज्योतिष्-शास्त्र
के
मन्त्रों की वर्णानुक्रम सूची